भगवान महावीर का धर्मचक्र जगत का कल्याण करो

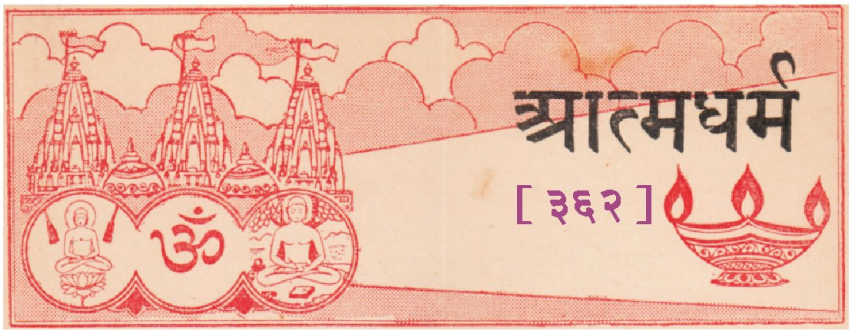

महावीर प्रभु के ज्ञानगगन से अमृतधारा वरषे हैं।
विपुलगिरि पर मंगल बाजें दिव्यध्वनि के बाजे हैं॥
बाग खिले हैं रत्नत्रय के आनंद-मंगलकार है।
अहो प्रभुजी! शासन तेरा भव से तारणहार है॥

तंत्री—पुरुषोत्तमदास शिवलाल कामदार संपादक—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन
वीर सं. २५०१ ज्येष्ठ (वार्षिक चंदा रुपये ६=००) वर्ष ३१ अंक-२

वीर-पथ के अनुगामी हम सब साधर्मी

[सम्पादकीय]

भगवान महावीर के मार्ग में चलनेवाले हम सब एक-दूसरे के साधर्मी हैं। संसार में माता-पुत्र का अथवा भाई-बहन का संबंध निर्दोष व उत्तम है, किंतु साधर्मी-साधर्मी का संबंध तो इससे भी बहुत ऊँचा स्थान रखता है; इसलिये तो प्रसिद्ध कहावत है कि 'साचुं सगपण साधर्मीनुं' (सच्चा नाता साधर्मी का)। इसकी तुलना में आ सके ऐसा कोई संबंध यदि हो तो वह एक ही है-गुरु व शिष्य का; परंतु गुरु-शिष्य का यह संबंध भी आखिर में तो साधर्मी के संबंध में ही समाविष्ट हो जाता है, क्योंकि एक ही धर्म के माननेवालों में जो बड़ा सो गुरु, और छोटा वह शिष्य; अत: 'सच्चा संबंध साधर्मी का'—यही सबसे उत्कृष्ट है।

जबकि एक राष्ट्र में रहनेवाले भिन्न-भिन्न धर्मवाले लोग भी राष्ट्रीयता की भावना के बल पर एक-दूसरे को भाई-भाई समझकर गौरवान्वित होते हैं, तब फिर एक जिनशासन में रहनेवाले तथा एक ही देव-गुरु-धर्म के उपासकों में धार्मिक भावना से परस्पर बंधुत्व का जो निर्दोष वात्सल्य रहता है, और 'यह मेरा साधर्मी भाई अथवा बहन है' ऐसी पहचान देते हुए उनके अंतर में जो निर्दोष भावना एवं धार्मिक गौरव वर्तता है-इसकी तुलना में संसार का कोई भी संबंध टिक नहीं सकता।

अपना धर्म तो वीतरागमार्ग है; इसमें साधर्मी-साधर्मी के संबंध की उत्कृष्टता का दूसरा कारण यह है कि—इसमें एक-दूसरे के संबंध से मात्र धार्मिक भावना की पुष्टि के सिवाय अन्य कोई आशा या अभिप्राय नहीं रहता। जो धर्म मुझे इष्ट है, मेरे साधर्मी को भी वही धर्म इष्ट है, अत: उसने मेरी धर्मभावना को पुष्ट किया, और उसकी धर्मभावना को मैं पुष्ट करता हूँ;—इसप्रकार आपस-आपस में धर्मपुष्टि की निर्दोष भावनारूप वात्सल्य से हमारे जैन धर्म की शोभा बढ़ती है।

भगवान महावीर के उत्तम मार्ग के हम पथिक हैं। साधर्मी के स्नेह के पास अन्य लाखों बातों को भी भूल जाओ। साधर्मी के प्रति वात्सल्य यह मुमुक्षु का आभूषण है। वीरप्रभु के ढाईहजारवर्षीय निर्वाणमहोत्सव के इस वर्ष में सभी साधर्मीजन वात्सल्य के पवित्र झरने में पावन बनों और आत्मसाधना के द्वारा वीरशासन को शोभाओ।

'जय महावीर'

वार्षिक चंदा
छह रुपये
वर्ष ३१वाँ
अंक २

आत्मधर्म

वीर सं. २५०१
ज्येष्ठ
इ.स. १९७५
जुलाई

वीरशासन के महान प्रभावक

आप वीरशासन के वीतरागी धर्मध्वज को लहराते हुए हमें महावीर भगवान के इष्ट उपदेश का रहस्य समझा रहे हैं। वीरशासन की महती शोभा और हमारे महान उत्सव की सान इसी में है कि भगवान के उपदेश का सच्चा रहस्य समझ कर हम अपना आत्मकल्याण करें। उसी की राह पूज्य श्री कानजीस्वामी द्वारा हमें प्राप्त हो रही है। धन्य आपका अवतार! धन्य वीरशासन!

अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो

[लेखांक : ६]

भगवान महावीर ने आत्मा की सहज शांति पाने का जो स्वाधीनमार्ग दिखलाया, तथा जैनसंतों ने जिसको प्रवाहित रखकर हमारे तक पहुँचाया, उस मार्ग को महाभाग्य से प्राप्त करके, उसके द्वारा आत्मा की अपूर्व शांति का लाभ लेने का यह अवसर है।

श्री पूज्यपादस्वामीरचित समाधिशतक के इस प्रवचन में आप आत्मशांति पाने का उपाय पढ़ रहे हो।

आत्मा कैसा है ?—जो अग्राह्य ऐसे क्रोधादि विकारी भावों को अपने स्वरूप में ग्रहण नहीं करता, तथा जो गृहीत ऐसे अपने अनंत ज्ञानादि निजस्वरूप को कभी छोड़ता नहीं, जो सर्वथा सर्व को जाननेवाला है–ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ—ऐसा धर्मी जानता है। जिनको आत्मा की अपूर्व शांति की चाहना हो, वे भी ऐसे आत्मा को स्वसंवेदन से जानो।

सम्यग्दृष्टि जीव अपने आत्मा को देहरूप या रागादिरूप नहीं मानता, परंतु ज्ञायकस्वरूप ही जानता है। आत्मा अनादि से ज्ञानस्वरूप ही है, उस स्वरूप से वह कभी च्युत नहीं होता, और क्रोधादिस्वरूप कभी हो नहीं जाता। क्षणिकपर्याय में क्रोधादिक भी है, परंतु समकिती अपने आत्मा को उस पर्याय जितना ही नहीं मानता; क्रोधादि को वह अपने चैतन्यस्वरूप से बाह्य समझता है; और ज्ञानानंदमय स्वभाव को ही वह अपना अंतरंगस्वरूप समझकर ग्रहण करता है। इसप्रकार स्वसंवेदन में उपयोगस्वरूप आत्मा का क्रोधादि से भिन्न अनुभव करना, यही परमात्मा होने का उपाय है, यही सच्ची शांति की रीत है।

मेरा आत्मा उपयोगस्वरूप है, वह उपयोग में ही तन्मय है, क्रोधादि में वह तन्मय नहीं है; तथा क्रोधादिक भाव मेरे उपयोग में तन्मय नहीं है–ऐसा स्पष्ट भेदज्ञान जब होता है, तब वह अंतरात्मा जीव क्रोधादि परभाव में एकत्वरूप कभी परिणमन नहीं करता, क्रोधादि को आत्मा

के निजस्वरूप में ग्रहण नहीं करता; और 'मैं ज्ञायकभाव हूँ'—ऐसा जो श्रद्धा-ज्ञान में ग्रहण किया है, उसे वह कभी छोड़ता नहीं, अपने आत्मा को ज्ञायकस्वरूप ही स्वीकार करता है।—और यह ज्ञानभाव स्वयं शांतिरूप ही है; क्रोध में अशांति है, ज्ञान में शांति है।

जैसे कोई पुरुष रात्रि के अंधकार में किसी मनुष्य से मिलने को गया; वहाँ वृक्ष के ठूंठ को देखकर भ्रमणा से उसने मान लिया कि यह मनुष्य है; उसे मनुष्य समझकर उसको बुलाया—'भाई! बोलो ना! क्यों नहीं बोलते? मेरे से रुष्ट क्यों हो गये?'—परंतु ठूंठ क्या बोलता? वह न बोला। तब व्याकुल होकर उसको भेंटने लगा। तब मालूम पड़ा कि अरे, यह तो वृक्ष का ठूँठ है, मनुष्य नहीं है। मैंने उसे मनुष्य समझकर अब तक व्यर्थ चेष्टायें की। वैसे अज्ञानी जीव इस देह को ही आत्मा मान रहा है; देह तो वृक्ष के ठूँठ जैसा जड़ है, तो भी उसको ही जीव मानकर 'मैं बोलता हूँ, मैं खाता हूँ' ऐसी व्यर्थ चेष्टा अज्ञानी करता है। धर्मात्मा जानते हैं कि अरे! पहले अज्ञानदशा में मैंने भी शरीर को आत्मा समझकर उन्मत्तवत् व्यर्थ चेष्टायें की; अब जिनवाणी के प्रताप से भेदज्ञान हुआ कि अहो! मैं तो ज्ञानानंदस्वरूप जीव हूँ, यह देह तो जड़-अचेतन है; देह से मैं अत्यंत भिन्न ही हूँ; पूर्व में भी भिन्न ही था, परंतु भ्रम से उसको मेरा मानकर मैं व्यर्थ चेष्टायें करता रहा।

यह शरीर तो पुद्गल का बना हुआ सदैव जड़ मृतककलेवर है; परंतु अज्ञानी जीव मोह से 'यह शरीर ही मैं हूँ' ऐसा मानकर उसकी साथ व्यर्थ चेष्टा करता है; अज्ञानी जीव यह देहरूपी मृतक को जीवंत मानकर (अर्थात् उसको ही आत्मा मानकर) अनादिकाल से उसका बोझ उठा रहा है, चैतन्यभगवान मृतककलेवर में मूर्छित हो गया है। देह की चेष्टा से जो अपने को सुखी-दुःखी मानता है, देह की क्रिया मैं करता हूँ—ऐसा जो मानता है, देह की क्रिया धर्म का साधन है—ऐसा जो मानता है वह, वृक्ष के ठूँठ को मनुष्य माननेवाले जैसा, शरीर को ही आत्मा माननेवाला है। अरे! अज्ञानदशा में चैतन्यतत्त्व को भूलकर भ्रम से कैसी-कैसी चेष्टायें जीव करता है,—उसकी उसे खबर नहीं है; जीव स्वयं जब ज्ञानी हुआ, तब उसे खबर पड़ी कि अरे! पूर्वे अज्ञानदशा में मैंने कैसी व्यर्थ चेष्टा की?

जैसे वृक्ष के ठूंठ को पुरुष मानकर उससे व्यर्थ चेष्टा करनेवाले उस मनुष्य को जब सच्चा भान हो कि—अरे, यह तो पुरुष नहीं, किंतु वृक्ष का ठूंठ है, तब उसके साथ उपकार-

वचनालाप आदि की चेष्टा को वह छोड़ देता है; वैसे ज्ञानी जीव चिंतन करता है कि अज्ञानदशा में देह को ही आत्मा समझकर मैंने व्यर्थ चेष्टा की और मैं दु:खी हुआ, परंतु अब मुझे भान हुआ कि अरे, यह देह तो जड़ है, वह न मेरा उपकारी है, न अपकारी; वह तो मेरे से भिन्न है। मैं अरूपी चिदानंद आत्मा हूँ। ऐसा भान होते ही शरीर की चेष्टा के प्रति अब मैं उदसीन हूँ, अर्थात् शरीर की चेष्टा अब मुझे जरा भी मेरी नहीं दिखती; शरीर की चेष्टा से मेरा कुछ भी सुधार-बिगाड़ हो—ऐसी भ्रमणा अब मिट गई है। मेरी चेष्टा तो ज्ञानमय है।

ये देहादि से भिन्न, ज्ञानानंदस्वरूप ही मैं हूँ—ऐसे स्वसंवेदन से जब सम्यग्ज्ञान हुआ तब धर्मात्मा जानते हैं कि अरे, अब तक तो वृक्ष के ठूंठ में पुरुष की भ्रांति की तरह, इस अचेतन शरीर को ही मैंने आत्मा माना और उसके साथ व्यर्थ चेष्टायें की। जैसे अंधेरे में कोई पुरुष वृक्ष के ठूंठ को या लम्बे पाषाण को पुरुष मानकर उसके बुलावे, उसके ऊपर प्रेम करे, उसके साथ लड़े; लड़ते-लड़ते वह पत्थर उसके ऊपर गिरे, तब वह ऐसा समझे कि अरे, इसने मेरे को दबाया; और कहने लगे कि—भाईसाहब! अब हट जा... मेरे को छोड़ दे। ऐसे अनेक प्रकार से उसके साथ भ्रान्त चेष्टा करे।—परंतु जब प्रकाश हो और दिखने में आवे कि अरे, यह तो पुरुष नहीं है किंतु पत्थर है—ठूंठ है, मैंने भ्रांति से व्यर्थ चेष्टा की! वैसे अज्ञानरूपी अंधकार के कारण अज्ञानी अचेतन शरीरादि को ही आत्मा मानकर उनके साथ प्रीति करता था, बाह्य विषयों को अपना इष्ट-अनिष्टकारी मानकर उनके प्रति राग-द्वेष करता था, मैं ही खाता हूँ, मैं ही जल पीता हूँ, मैं ही बोलता हूँ, आँख से ही मैं देखता हूँ, ये इंद्रियाँ मैं ही हूँ—ऐसा मानकर अनेक प्रकार की भ्रांतियुक्त चेष्टा करता था-परंतु अब जहाँ ज्ञानप्रकाश हुआ... और स्वसंवेदन से आत्मा को देह से भिन्न जाना, तब धर्मी जीव समझता है कि अरे, यह देह तो अचेतन है, वह मैं नहीं; फिर भी उसको ही आत्मा समझकर अब तक व्यर्थ चेष्टायें की, किंतु अब वह भ्रांति मिट गई। वह ज्ञानी अब अपने को चैतन्यस्वरूप ही जानता हुआ चैतन्यभावरूप ही चेष्टा करता है, तथा स्व-पर का भेदज्ञान करके चैतन्य की अपूर्व शांति को वेदता है। अब भान हो चुका है कि इस अचेतन देह से अत्यंत भिन्न चेतनस्वरूप मैं हूँ।

❀ शरीर रूपी, मैं अरूपी; शरीर जड़, मैं चेतन।

❀ शरीर संयोगी, मैं असंयोगी; शरीर विनाशी, मैं अविनाशी।

❀ शरीर अन्धा, मैं देखता; शरीर इंद्रियग्राह्य, मैं अतीन्द्रिय-स्वसंवेदनग्राह्य।

❀ शरीर मेरे से बाह्य परतत्त्व; और मैं अंतरंग चैतन्यमूर्ति स्वतत्त्व।

❀ शरीर सुख से सर्वथा रहित, और मैं सुखस्वभाव से भरपूर।

—इसप्रकार शरीर को और मेरे को सर्वथा भिन्नता है।

— ऐसे अत्यंत भिन्नता के विवेक से जब भेदज्ञान हुआ और यथार्थ तत्त्वश्रद्धानरूप सम्यग्दर्शन हुआ कि तत्क्षण शरीरादि में आत्मबुद्धि का भ्रम छूट गया; देह के सुधरने-बिगड़ने से मेरा कुछ भी सुधार-बिगाड़ हो, ऐसा भ्रम मिट गया, और देहादि से उपेक्षित होकर आत्मा अपने चिदानंदस्वभाव के सन्मुख हुआ, वहाँ उसे परम शांति हुई; इसी का नाम समाधि है।

परद्रव्य से आत्मा की भिन्नता जाने बिना उनको उपेक्षा वृत्ति नहीं होती; परद्रव्य से उपेक्षा के बिना स्वद्रव्य में एकाग्रता नहीं होती; और स्वतत्त्व में एकाग्रता के बिना समाधि नहीं होती। समाधि के बिना सुख-शांति कैसे? अतएव सबसे प्रथम भेदज्ञान के अभ्यास द्वारा देहादि से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप आत्मा को जानना, यही शांति का उपाय है। हे भव्य जीवो! तुम सच्ची शांति पाने के लिये आत्मा को पहिचानो।

जिसमें सुख है उसके जानने से सुख होता है।
सुख जिसमें नहीं है उसको जानने से सुख नहीं होता।

जिस शुद्धात्मा के स्वसंवेदन की उपलब्धि होने पर मेरे ज्ञानचक्षु खुल गये, तथा जो इंद्रियों से एवं विकल्पों से अगोचर अतीन्द्रिय है, ऐसा स्वसंवेद्य मैं हूँ। ऐसे स्वसंवेद्य आत्मरूप से ही मैं अपने को अनुभवता हूँ, इसके सिवाय देहादि कोई भी परद्रव्य मुझे आत्मरूप से किंचित् भी प्रतिभासित नहीं होते। इसप्रकार सम्यग्ज्ञान होने पर आत्मा को अपने स्वरूप की निःशंक प्रतीति होती है कि, अब मुझे शुद्ध चैतन्य का भान हुआ, मेरी चेतना जागृत हुई, तथा स्व-पर समस्त तत्त्वों के यथावत् स्वरूप को मैंने जान लिया। ऐसा शुद्ध चैतन्यतत्त्व मैं हूँ—कि जिसके अभान से मैं सुप्त था, और अब जिसके भान से मैं जागृत हुआ। कैसा है मेरा स्वरूप?—अतीन्द्रिय है, और वचन के विकल्पों से अगोचर है; मात्र स्वसंवेदनगम्य है; मेरा स्वरूप ऐसा नहीं—जो राग से या व्यवहार के विकल्प से अनुभव में आ जाये; मेरा स्वरूप तो अन्तर के स्वसंवेदन से ही अनुभव में आता है; ऐसा स्वसंवेद्य-तत्त्व मैं हूँ।

जिसप्रकार नींद में सोते हुये मनुष्य को अगल-बगल का कोई भान नहीं रहता, उसीप्रकार देह में आत्मबुद्धि करके मोहनींद में सोते हुये प्राणी को स्व-पर का भान नहीं रहता। वीतरागी संतों भेदज्ञान के मंत्र द्वारा उसे मोहनींद से जगाते हैं कि अरे जीव! तुम जागो रे जागो! जागृत होकर के तुम्हारे चैतन्यपद को देखो।

अंतर्मुख होकर अतीन्द्रिय आत्मा का स्वसंवेदन होते ही धर्मी के चैतन्यचक्षु खुल गये, अनादि की अज्ञान-निद्रा खुल गई, तब वह कहता है कि अहा, ऐसे सुंदर मेरे तत्त्व को अब तक मैंने नहीं जाना था, परंतु अब स्वसंवेदन से मैंने मेरे आत्मतत्त्व को जान लिया है, अब मेरी चेतना जागृत हुई है।

❀ ज्ञानी-धर्मात्मा संसार के कार्यों का उत्साह छोड़कर निजस्वरूप के उत्साह में जागृत वर्तता है।

❀ निजस्वरूप में जिसका उपयोग है, वह जागृत है।

चैतन्यस्वरूप से जो विमुख है, वह सोता है।

ज्ञानानंदमय अपने परमात्मतत्त्व को जानकर उसकी भावना करनेवाला ज्ञानी जानता है कि अहा, मैं तो ज्ञानमूर्ति हूँ; ज्ञानस्वभाव की भावना में राग-द्वेष है ही नहीं; तब फिर राग के बिना मैं किसको मित्र मानूँ? तथा द्वेष के बिना मैं किसको शत्रु मानूँ? मित्र या शत्रु की कल्पना तो राग-द्वेष में है; ज्ञान में मित्र-शत्रु कैसा? ज्ञान में राग-द्वेष नहीं है, और राग-द्वेष के बिना मित्र-शत्रु की कल्पना भी नहीं है। इसप्रकार ज्ञानभावनारूप परिणत ज्ञानी कहते हैं कि मेरे चिदानंदस्वरूप को देखते ही तत्क्षण राग-द्वेष ऐसे क्षीण हो गये कि जगत में कोई अन्य मुझे अपना मित्र या शत्रु प्रतिभासित नहीं होता; जगत से भिन्न ज्ञानानंदस्वरूप ही मैं हूँ। देखो, ऐसे आत्मस्वरूप की भावना, वही वीतरागी शांति का उपाय है, और वीतरागी शांति ही भव के अंत का उपाय है; अतः मुमुक्षु को बारबार ऐसे आत्मस्वरूप की भावना करना चाहिये।

प्रश्न - आप अन्य को शत्रु या मित्र भले ही न मानों, परंतु अन्य जीव आपको शत्रु या मित्र मानेगा-तो?

उत्तर - दूसरा जीव राग-द्वेष करे, इससे मुझे क्या? मैं तो बोधस्वरूप अतीन्द्रिय आत्मा हूँ; अतीन्द्रिय आत्मा को जो नहीं जानते, ऐसे अज्ञजीव तो मेरे को देख ही नहीं सकते, वे लोग

मात्र शरीर को ही देखते हैं, मेरे को नहीं (–क्योंकि शरीर मैं नहीं हूँ); अत: वे मुझे शत्रु या मित्र नहीं मान सकते। वे इस शरीर को देखकर इसको शत्रु या मित्र माने तो मानो, इससे मुझे क्या? मैं तो चैतन्य हूँ; मेरे को तो वे देखते ही नहीं, तब बिना देखे शत्रु या मित्र कैसे मानें? जिनको जिसका परिचय ही नहीं है, वे उसको शत्रु या मित्र कैसे मानें? अज्ञ जनों को बोधस्वरूप ऐसे मेरे आत्मा का परिचय ही नहीं है, उनके चर्मचक्षु से तो मैं अगोचर हूँ; वे लोग बेचारे अपने आत्मा को भी नहीं जानते, तब मेरे आत्मा को तो कहाँ से जानें? और मेरे को जाने बिना मेरे संबंध में शत्रु–मित्रता की चेष्टा कैसे कर सकें?

और, आत्मा के स्वरूप को जाननेवाले विज्ञजन तो किसी को शत्रु–मित्र मानते नहीं; वे तो मेरे को भी ज्ञानस्वरूप ही देखते हैं; अत: मेरे संबंध में उन्हें भी शत्रु–मित्रपने की बुद्धि नहीं रहती। सर्व जीवों को ज्ञानस्वरूप जानने से अपूर्व समभाव होता है।

सर्व जीव है ज्ञानमय ऐसा जो समभाव।
सो सामायिक जानना, कहते जिनवरराय।

देखो, यह ज्ञानी की वीतरागी भावना! वे स्वयं अपने आत्मा को बोधस्वरूप जानते हैं तथा जगत के सभी आत्माओं को भी वैसे ही बोधस्वरूप जानते हैं, अत: उन्हें किसी के प्रति शत्रु–मित्रपने की बुद्धि नहीं रहती, एवं दूसरे लोग मेरे को शत्रु–मित्र मानते होंगे—ऐसा शल्य भी नहीं रहता; इसप्रकार वीतरागी शांतिरूप समाधि रहती है।

देखो, यह परमात्मा होने के लिये आत्म–भावना! देह से तथा राग से पार जैसा परमात्मा है, वैसा मैं हूँ—ऐसी परमात्मभावना जीव ने पूर्व में कभी नहीं की। 'ज्ञान–आनंद का पिण्ड परमात्मा मैं हूँ (अप्पा सो परमप्पा)'—ऐसी दृढ़ भावना से उसमें एकत्वबुद्धि होने पर अपूर्व आनंद का स्वसंवेदन होता है। जिसप्रकार अज्ञान में 'मैं मनुष्य हूँ' इत्यादि देहभावना दृढ़ हो गई है, उसीप्रकार 'मैं मनुष्य नहीं, परंतु मैं तो देह से भिन्न ज्ञानशरीरी परमात्मा हूँ।' ऐसी आत्मभावना दृढ़ हो जाना चाहिये—ऐसी दृढ़ भावना होना चाहिये कि उसमें ही अभेदता दीखे, उसमें ही अपनापन हो, देहादि में कहीं भी अपनापन न रहे। स्वप्न में भी उसी का घोलन हो कि मैं चिदानंद परमात्मा हूँ... अनंत सिद्धभगवंतों की साथ में रहता हूँ। मैं शरीर हूँ—ऐसा स्वप्न में भी न दीखे। इसप्रकार आत्मभावना के दृढ़ संस्कार से उसमें ही लीन होकर आत्मा

स्वयं परमात्मा बन जाता है। परमात्मभावना का यह फल है, क्योंकि 'जैसी भावना वैसा भवन'।

अरे जीव! तू अपने चैतन्य को चूककर बाहर में शरीर-लक्ष्मी-परिवार आदि को अभयस्थान मानकर उनका विश्वास कर रहा है, किंतु वे तो भयस्थान है, बाहर में कोई तेरा शरण नहीं है; अंतर में अपना चैतन्यभाव ही परम शरण है—किंतु उसे तो भयस्थान समझकर तू उससे दूर भागता है;—अरे भाई! तेरे आत्मा जैसा अभयस्थान संसार में कोई नहीं है।

मूढ़जीव विश्वस्त है जहँ वे ही भय का स्थान है।
भयभीत है जो स्थान से वो तो अभय का धाम है॥

रे जीव! तेरा चैतन्यतत्त्व भय का स्थान नहीं है, वह उलझन का स्थान नहीं है, दु:ख का स्थान नहीं है; तेरा चैतन्यतत्त्व तो अभयपद का स्थान है, शांतिस्वरूप है, आनंद का धाम है। ऐसे आत्मतत्त्व के बिना बाहर में अन्य कोई भी चीज़ तेरे को शरण नहीं है, अन्य कोई निर्भयता का स्थान नहीं है; एक अपना चैतन्यपद ही अभय है, वही शरण का स्थान है, अत: नि:शंक होकर उसी में प्रवर्तो—ऐसा 'स्वामी' का उपदेश है।

अरे, इंद्रियविषयों तो एकांत भय का-दु:ख का ही स्थान है, और यह अतीन्द्रिय चिदानंदस्वरूप आत्मा ही अभयस्थान तथा सुख का धाम है। चैतन्य की सम्मुखता में आनंदरस का अनुभव होता है; अत: तुम अपने शुद्ध चैतन्यपद का अनुभव करो—ऐसा संतों का उपदेश है।

अहा, जो अनंत सुख का धाम है, ऐसा चैतन्यस्वभाव तो तेरे को इष्ट न लगा, उसमें तुझे उत्साह न आया, और अनंत दु:ख के धाम ऐसे जो बाह्यविषय, वे तेरे को इष्ट-सुखदायक लगा, उनमें तेरे को उत्साह आया—यह कैसी विपरीतता है? अरे जीव! तू अपने ज्ञानचक्षु को खोल रे खोल! ज्ञानचक्षु खोलकर तू देख तो सही कि तेरा स्वभाव कैसा सुंदर आनंदरूप है, उस स्वभाव को साधने में कोई कष्ट नहीं है; जबकि बाह्यविषयों में झुकाव तो एकांत दु:खरूप है, स्वप्न में भी उनमें सुख नहीं—इसप्रकार विवेकपूर्वक विचार करके तेरे अंतरस्वभाव के सम्मुख हो जा, और बाह्यविषयों में सुखबुद्धि को छोड़कर उनसे निवृत्त हो जा। नित्य निर्मल स्थान तथा सुख का धाम तेरा आत्मा ही है।

'सुखधाम अनंत सुसंत चही, दिनरात दृहे तद्ध्यान महीं।'

अनंत सुख का धाम ऐसा जो चैतन्यपद, उसकी चाहना करके संत-मुनिवर दिनरात उसके ध्यान में रहते हैं। हे जीव! तू भी ऐसे चैतन्यपद का विश्वास कर। जगत में सुख का धाम एकमात्र मेरा चैतन्यपद ही है-ऐसा विश्वास करके निर्भय होकर स्वभावोन्मुख हो। स्वभावोन्मुख होते ही तुझे दिखेगा कि अहा, यह तो बड़ा आनंद का धाम है; इसकी साधना में कष्ट नहीं है, अपितु कष्ट नष्ट हो जाते हैं; यही मेरा निर्भय पद है। इसप्रकार स्वपद को देखते ही अपूर्व आत्मतृप्ति तथा शांति होती है।

संतों की बाह है टूंकी व टच।
स्व में बस और पर से हट॥

अतीन्द्रिय आत्मा की महिमा सुनकर आत्मोन्मुख होते ही बाह्यविषयों से विमुखता हो जाती है। बाह्यविषय तो आत्मा से भिन्न ही है, परंतु अपने उपयोग को उनसे हटाकर आत्मस्वभाव में लगाना है। पहले अपने परिणाम में ही ऐसा निश्चय हो जाना चाहिये कि मेरा जो उपयोग पर की ओर झुकता है, उसमें मेरा सुख नहीं है, अंतर्मुख उपयोग में ही सुख है। ऐसे निर्णयपूर्वक उपयोग को अंतर में एकाग्र करना यही परम आनंद का अनुभव करने की रीति है। इस रीति से उपयोग को अंतर में एकाग्र करते ही अपना परमात्मतत्त्व अपने को साक्षात् दिखता है, अनुभव में आता है और अतीन्द्रिय वीतरागी अपूर्व शांति का वेदन होता है। अतः श्रीगुरु बारबार कहते हैं कि—ऐसी अपूर्व शांति पाने के लिये आत्मा को पहचानो।

८६ रत्नों की मंगल-माया (गतांक से चालू)

[षट्कारकों की स्वाधीनता से सुशोभित चैतन्यचक्रवर्ती]

इस मंगल-माला के ४९ रत्न आपने गतांक में पढ़े; अब शेष यहाँ दिये हैं—जिन्हें पढ़कर आपको प्रसन्नता होगी। चैतन्यगुणों के अनंत रत्न श्रुतप्रवचन के समुद्र में भरे पड़े हैं, उनमें से ही चुनकर यह मंगल-माला गूँथी गयी है, जिसके पहिनने से आप बन जाओगे चैतन्यचक्रवर्ती।

(संपादक)

५०. अहा, छहों कारकों की स्वाधीनता से शोभायमान यह चैतन्यभगवान स्वयं बड़ा दातार है;—ऐसा दातार है कि अंतर्मुख होते ही सम्यग्दर्शन से सिद्धपद तक के अमूल्य रत्न को देता है। ऐसा आत्मा दिखाकर भगवान वीरनाथ ने बड़ा उपकार किया है।

५१. आत्मा में अंतर्मुख होते ही चैतन्यदातार कहता है कि माँग ले... तेरे को जो चाहिये सो माँग ले! यह रहा तेरा चैतन्यभंडार! इसमें से तुझे जो भी चाहिये सो निर्मल पर्याय ले ले।

५२. आत्मा अंतर्मुख होकर अपने में से राग को नहीं लेता परंतु निर्मलभाव को ही लेता है। आप ही दातार एवं आप ही लेनेवाला, तब फिर स्वयं मलिनता क्यों लेगा?

५३. अरे, हम कल्पवृक्ष के पास जायें और वांछित फल न देवे तो वह कल्पवृक्ष ही कैसा? यह चैतन्य-कल्पवृक्ष के पास जाने से यदि वह सम्यग्दर्शन-केवलज्ञान-मोक्ष वगैरह फल न देवे तो उस चैतन्य की महिमा को कौन मानेगा?

५४. चैतन्य के पास जावे (अर्थात् उसमें अंतर्मुख होवे) और खाली हाथ वापस आवे-ऐसा नहीं हो सकता; जो चैतन्य के पास जावे, उसे सम्यग्दर्शनादि निर्मलभाव मिले ही मिले।

५५. उत्पाद-व्ययरूप भाव क्षण-क्षण पलटते रहते हैं तो भी आत्मा अपनी अपादान शक्ति से

ध्रुवरूप रहता है। ऐसे उत्पाद-व्यय-ध्रुवरूपी आत्मा में से धर्म का प्रवाह बहता ही रहता है।

५६. धर्मी जानते हैं कि षट्कारकों से स्वतंत्र प्रभु ऐसा मेरा आत्मा है, मैं अपने में से ही मेरे सम्यग्दर्शनादि कार्य को लेता हूँ।

५७. मेरे धर्म की ध्रुव-खान मेरा आत्मा ही है, कोई परद्रव्य में या रागादि में मेरे धर्म की खान नहीं है; अतः धर्म का साधन बाह्य में शोधने की व्यग्रता मुझे नहीं है।

५८. अपादानशक्ति से आत्मा की ध्रुवता दिखाकर आचार्यदेव कहते हैं कि हे भाई! ऐसी अनंत शक्तिवाले तेरे आत्मा में से ही तू धर्म ले; बाहर में मत खोज।

५९. तेरे धर्म का स्वामी तेरा आत्मा है; जिसने स्वामीरूप से चैतन्यस्वभाव को स्वीकार किया, उसकी निर्मल पर्याय को कोई रोक नहीं सकता।

६०. धर्मी जानते हैं कि ज्ञान और सुखस्वरूप मेरा ध्रुव आत्मा ही मेरा शरण है; अन्य कोई ऐसा नहीं है तो ध्रुव रहकर मुझे शरण दे।

६१. जो निर्मल पर्यायें होती हैं, उससे कहीं राग फैलकर ध्रुव नहीं रहता किंतु चैतन्यस्वभाव ही ध्रुवरूप रहता है। ऐसी शक्तिवाले आत्मा की पहचान करने से राग का आश्रय छूटकर स्वभाव का आश्रय होता है।

६२. षट्कारक में अंतिम 'अधिकरण' है; आत्मा में जो सम्यग्दर्शनादि क्रिया होती है, उसका आधार कौन? यह भगवान आत्मा ही अपनी अधिकरणशक्ति से उसका आधार होता है, अन्य कोई आधार नहीं है।

६३. भक्ति में निमित्त से ऐसा कहने में आता है कि हे देव! हे गुरु! मुझे आपका ही आधार है; आपके ही आधार से मुझे धर्मप्राप्ति हुई। परंतु ऐसी भक्ति के समय धर्मात्मा को अंतर में अपनी अधिकरणशक्ति का भान है कि मेरा यह स्वभाव ही मेरे धर्म का आधार है, अन्य कोई आधार नहीं है।

६४. हे जीव! देह के आधार से तेरा धर्म नहीं है, राग के आधार से भी तेरा धर्म नहीं है; तेरा धर्म तो तेरे आत्मस्वभाव के ही आधार से है।

६५. संयोग के छूटने से मैं निराधार हो गया, ऐसा धर्मी नहीं मानते। मेरे धर्म का ध्रुव-आधार मेरे में ही है—ऐसी नि:शंक प्रतीत उन्हें रहती है।

६६. अहा, धर्म के लिये मेरा आत्मा ही मेरा आधार है। मेरा धर्म कोई संयोग के आधार से नहीं आया, आत्मा के ही आधार से आया है, अत: किसी संयोग में ऐसा सामर्थ्य नहीं कि मेरे धर्म का घात कर सके।

६७. हे भव्य! आधार होने की अधिकरणशक्ति तेरे आत्मा में ही है, उसी का आधार ले; अंतर में शुभराग का विकल्प उठे, वह भी तेरे धर्म का आधार नहीं है।

६८. क्या सिद्धभगवान लोकाकाश के आधार पर रहे हैं?-ना; वे तो अपने आत्मप्रदेशों के आधार पर ही रहे हैं। उसीप्रकार सिद्धभगवंतों की तरह सम्यग्दर्शनादि सभी पर्यायें भी आत्मा के ही आधार से हैं।

६९. अहा, अपने छहकारक की ऐसी स्वाधीनता जानने से आत्मा में कितना समाधान हो जाता है? स्वाश्रय से अपूर्व शांति हो जाती है। फिर उसे आकुलता-क्लेश या पराश्रय की व्यग्रबुद्धि नहीं रहती।

७०. आत्मा का चेतनस्वभाव अपनी निर्मलता का आधार है परंतु मलिनता का आधार वह नहीं है। अरे, राग हो, उसका आधार भी आत्मा नहीं, आत्मा तो सम्यग्दर्शन-ज्ञान-चारित्र-सुख का ही आधार है—ऐसा उसका स्वभाव है।

७१. हे जीव! तेरे धर्म का आधार तेरे में ही है,—ऐसी स्वशक्ति की पहचान करके तू तेरे आत्मा का ही अवलंबन ले और अन्य के अवलंबन की बुद्धि छोड़!

७२. इसप्रकार स्वाधीन षट्कारकरूप चैतन्यप्रभुता दिखलाई। यह चैतन्यचक्रवर्ती अपने स्वाश्रित षट्कारक से शोभायमान है;—ऐसे स्वाश्रित भावरूप धर्मपरिणमन—यही भगवान महावीर का धर्मचक्र है।

७३. ऐसी अनंत शक्तिरूप स्वभाव, वही आत्मा का स्वभाव है, और आत्मा उसका ही स्वामी है। इसके सिवाय अन्य कोई न आत्मा का स्व है, न आत्मा उसका स्वामी।

७४. इसप्रकार जिसने अपने स्वभाव में ही स्व-स्वामीपना जाना, उसने अपनी परिणति को

स्व-स्वभाव में जोड़ दी और विकार से मोड़ दी।—यही है धर्मचक्र का परिणमन और यही है मोक्षमार्ग!

७५. ऐसी स्वभावशक्ति को जानकर, पर से विभक्तपना तथा निजस्वभाव का स्वामीपना प्रगट करके हे जीव! तू स्वानुभव कर। इस स्वानुभूतिरूप धर्मचक्र में तुझे ज्ञान-आनंद इत्यादि अनंतशक्तियों का एकसाथ परिणमन दिखेगा।

७६. आत्मा के षट्कारक की स्वाधीनतारूप यह अद्भुत मंगलमाला जो पहिनेगा वह चैतन्य-चक्रवर्तीपद को पावेगा।

७७. अरे रे जीव! अब तुझे इस संसार के दुःख से छूटना है कि नहीं? यदि छूटना ही है-तो फिर देर क्यों लगाना? इसी क्षण छूट जा। आनंद तो तेरे में हाजिर ही है-उसमें आजा।

७८. मुमुक्षु को सभी प्रसंग में अपनी आत्मिकभावना का घोलन हो और चेतनरस बढ़ता जाये—यह महत्त्व का है। आत्मार्थी जीव किसी भी प्रसंग को अपने चेतनरस की वृद्धि का ही कारण बनाता है।

७९. सम्मेदशिखरजी बगैरे तीर्थधामों की यात्रा, या जिनेन्द्रदेव के पंचकल्याणक का दर्शन इत्यादि सभी प्रसंग में मुमुक्षु अपने आत्मकल्याण की तथा आत्मा के अद्भुत महिमा की उत्तम भावना जगाता है; नई-नई भावनाओं के घोलन से वह अपने आत्मा को वीतरागमार्ग में आगे ही आगे बढ़ाता जाता है। उसके साथ जो राग रहता है, उसको वह चैतन्य से भिन्न समझता है।

८०. बाह्य परिस्थिति सुनकार हो, चारों ओर उदासी छा रही हो—ऐसे प्रसंग में धर्मी को मुनिओं के सहवास की याद आती है; मानो मुनिओं के सहवास में ही रहता हूँ—ऐसी परम वैराग्यरूप आत्मभावना में जागृत होती है।

८१. साधक जीव का चित्त सदैव सर्वज्ञ भगवंत के साथ केलि करता रहता है; उसकी आत्मसाधना का अतीन्द्रिय-तार सर्वज्ञस्वभाव के साथ लगा हुआ है, वह कभी नहीं टूटता।

८२. एकत्वरूप आत्मा की परम गंभीर महिमा जानकर, उसकी ऊंडी भावना में उतरकर आत्मअनुभूति में पहुँच जाना—यही वीरनाथ का मार्ग है; और जिसने ऐसा किया, वह जीव पंचपरमेष्ठी का साधर्मी हुआ।

८३. वीतरागरस में झूलनेवाले पंचपरमेष्ठी भगवंत को नमस्कार। अहो, पंचपरमेष्ठी के प्रसाद से प्राप्त सुंदर चैतन्यतत्त्व कैसा सुशोभित हो रहा है!

८४. दुनिया तो दुनिया के ढ़ंग से चल रही है; संसार की परिस्थिति मुमुक्षु को वैराग्य जगाती है; चैतन्य की अद्भुतता के सिवाय अन्यत्र कहीं भी मुमुक्षु को चैन नहीं पड़ता।

८५. शीतल-शांति (अकषाय-वेदन) देनेवाली वस्तु कहीं बाहर में नहीं है; अहा चैतन्यदेव! शांति देने की ताकत एक तेरे में ही है। चैतन्य की आराधना के अद्भुत प्रभाव का क्या कहना!!

८६. हे मोक्षार्थी साधर्मी! भगवान का आत्मा प्रत्येक प्रसंग में (गर्भ से लेकर मोक्ष तक) कैसे चैतन्यभावरूप परिणत हो रहा है—उसे तुम पहिचानो। अकेले संयोग को, पुण्य के ठाट को या राग-द्वेष को देखने में मत रुको; उनसे पार आत्मिक गुणों के द्वारा प्रभु की सच्ची पहचान करो, तब तुम्हें भी सम्यक्त्वादि होगा और तुम भी प्रभु के मोक्ष के मार्ग में प्रविष्ट हो जाओगे।

जो जानते महावीर को चेतनमयी शुद्धभाव से।
वे जानकर निजात्म को, सम्यक्त्व ले आनंद से॥

कैसे भूलें याद आपकी....

[श्री रूपेन्द्र जैन (बयाना) के काव्य के आधार से ब्र. हरिलाल जैन]

जैनधर्म का अनुपम झंडा भारत में फहराया है।
निजवैभव का तत्त्व सभी को, महावीर! बतलाया है॥
कैसे भूलें याद आपकी, तुमने हमें जगाया है।
विषयभोग में मस्त पड़े हम, तुमने ज्ञान कराया है॥
वीतराग-सर्वज्ञ बनकर पावन पथ बतलाया है।
निजातम की दिव्यशक्ति को, खोल-खोल समझाया है॥
राग-द्वेष के ऊपर उठकर, समताभाव सिखाया है।
आत्मधर्म का अद्भुत चेतन सत्यस्वरूप दिखलाया है॥
कैसे भूलें याद आपकी, तुमने हमें जगाया है।

अप्रतिहत मुमुक्षु दशा

वह प्रकट करके महावीरप्रभु के मार्ग में आ जाओ

[सम्यक्त्वजीवन-लेखमाला : लेखांक : १६]

[सच्ची मुमुक्षुता का स्वरूप तथा सम्यक्त्व का मार्ग दिखानेवाली इस लेखमाला में दूसरे आठ लेख समाप्त हो रहे हैं। सम्यक्त्व के पहले उसकी पूर्व तैयारी का जीवन, तथा सम्यक्त्व होने के बाद का जीवन कैसा सुंदर होता है ? यह इस लेखमाला में दिखाया है।

अहो, मुमुक्षु की विचारधारा ऐसे अपूर्व भाव से चल रही है कि जिसमें राग का रस टूटता जाता है और चैतन्य का रस बढ़ता जाता है। अबकी विचारधारा में उसका ज्ञान ऐसा नहीं है - जैसा कि पूर्व में अनंत बार ११ अंग तक पढ़कर निष्फल गया; इस विचारधारा में उसका ज्ञान कोई नया ही कार्य करता है; इस ज्ञान का संस्कार निष्फल जानेवाला नहीं है; यह ज्ञान रागादि से भिन्न होकर चैतन्य का स्वसंवेदन करेगा ही-और वह भी अल्प समय में ही। वाह! ऐसी मुमुक्षुदशा भी धन्य है; वह ऐसी अफर है कि आगे बढ़ती हुई सम्यक्त्व को अवश्य प्राप्त करेगी। साधर्मीजनों! वीरनिर्वाण के ढाई हजार वर्षीय इस महान उत्सव के मंगल अवसर में ऐसी दशा शीघ्र ही प्रगट कर लो और महावीर प्रभु के मुक्तिमार्ग में आ जाओ।

—ब्रह्मचारी हरिलाल जैन]

सम्यक्त्वसन्मुख जीव की भावना ऐसी उत्कृष्ट होती है कि मुझे ज्ञानीगुरुओं के पास रहकर उसका सेवन करना है, मुझे संतों के धाम में रहकर आत्मा का ज्ञान करना है और इस भवदुःख से छूटना है।—इसप्रकार अपने हित के लिये आत्मस्वरूप संबंधी नये-नये ज्ञान की उत्कंठा उसे बनी रहती है; और गुरु का उपदेश ग्रहण करके उसके अंतर्विचार से सम्यक्त्व का

द्वार खुल जाता है; उसे ख्याल आ जाता है कि अब आत्म-अनुभूति के लिये अंतर में मुझे क्या करने का है! ऐसा लक्षगत होने के बाद साक्षात् अनुभूति के लिये उसका चित्त ऐसा इंतजार हो जाता है—जैसा वर्षा के लिये किसान, तथा माता के लिये बालक। इसप्रकार की आत्म-रटना के द्वारा उसका विचार-विवेक बढ़ता जाता है, आत्मरस बढ़ता जाता है, और उसका उपयोग आत्मस्वरूप की अधिक-अधिक गहराई में उतरने लगता है। बस, अभी इसी क्षण आत्मा का स्वरूप देख लूँ और सम्यग्दर्शन प्रगट कर लूँ, यही मेरा कार्य है—ऐसी उग्र उसकी विचारधारा हो जाती है। अब ध्येय तक पहुँचने में देर नहीं।

अहो, मुमुक्षु की यह विचारधारा भी ऐसे अपूर्व भव से उठी है कि पहले कभी नहीं हुई; उसमें राग का रस टूट रहा है, और चैतन्यरस का घोलन बढ़ रहा है। पूर्व अनंतबार शास्त्रज्ञान करके जो निष्फल गया, ऐसा यह नहीं है, यह तो उससे भिन्न प्रकार का अपूर्व है। इस ज्ञान का संस्कार आगे बढ़कर अवश्य सफल होगा। राग और चैतन्य की अत्यंत भिन्नता जानकर वह शुद्ध चैतन्यस्वरूप आत्मा का स्वसंवेदन करेगा और वह भी अल्प काल में ही। अब अपने इस ध्येय तक पहुँचने में उसे देर नहीं है। वाह, यह मुमुक्षुदशा भी धन्य है; वह ऐसी अफर है कि आगे बढ़कर सम्यक्त्व तक पहुँचेगी ही, बीच में से वापस नहीं लौटेगी।

उस मुमुक्षु को भेदज्ञान के विचार के बल से अंतर में शांति होने लगती है;—वह शांति राग में से नहीं आती, किंतु अंतर की किसी गहराई में से आई है। इसप्रकार अपने वेदन के बल से उसका आंतरिकमार्ग खुलता जाता है; जैसे-जैसे वह मार्ग अधिक-अधिक स्पष्ट होता जाता है, वैसे-वैसे उसका आत्मिक उत्साह भी बढ़ता जाता है; अब उसे मार्ग में संदेह नहीं पड़ता, तथा पथ भी अपरिचित नहीं लगता।

—और इसके पश्चात् एक ऐसी क्षण आती है कि आत्मा कषायों से छूटकर चैतन्य के परम गंभीर शांतरस में मग्न हो जाता है... अपना अत्यंत सुंदर महान अस्तित्व पूरा का पूरा स्वसंवेदनपूर्वक प्रतीत में आ जाता है। बस, यही है सम्यग्दर्शन! यही है मंगल चैतन्यप्रभात! और यही है भगवान महावीर का मार्ग! अब उसके आत्मा में धर्मचक्र चालू हो गया।

अहा, इस अपूर्व दशा का क्या कहना? प्रिय साधर्मी भाई-बहन! सोचिये तो सही कि, जैनशासन के सभी संतों ने दिल खोलकर जिसकी भूरी-भूरी प्रशंसा की है-वह अनुभूति कैसी

सुंदर होगी ? उस वस्तु को लक्ष में लेकर उसका निर्णय करो। उसके निर्णय से तुम्हें अपार आत्मबल मिलेगा और तुम्हारा इष्टकार्य (स्वानुभव) शीघ्र ही सिद्ध हो जायेगा। अतः बन्धुओं!—

❀ शीघ्र आत्मनिर्णय करो।

❀ आनंदमय अनुभूति करो।

❀ अपूर्व शांति का वेदन करो।

❀ और मोक्ष के मार्ग में आ जाओ॥

— यही है भगवान महावीर का संदेश! और यही है उनके निर्वाण महोत्सव की सच्ची अंजलि।

जय महावीर

[स्वानुभवरसपूर्ण सम्यक्त्व-लेखमाला के दूसरे आठ लेख समाप्त हुए।]

— क्या करना ?

अनेक जीवों को प्रश्न होता है कि धर्म करने के लिये हमें क्या करना ? इसका उत्तर श्रीगुरु यहाँ मात्र छह पंक्ति में समझाते हैं—

ज्ञानी या अज्ञानी कोई भी जीव पर में परमाणुमात्र का परिवर्तन करने का सामर्थ्य नहीं रखता; अपने से भिन्न जड़-देहादि की क्रिया में आत्मा का कर्तृत्व है ही नहीं। ज्ञानी और अज्ञानी में पूर्व-पश्चिम जैसा महान अंतर है—वह यह कि, अज्ञानी परद्रव्य का तथा राग-द्वेष का कर्ता होता है, जबकि ज्ञानी अपने को शुद्ध ज्ञानरूप अनुभवता हुआ उनका कर्ता नहीं होता। पर से भिन्न अपने एकत्व की अनुभूति से ही पर के कर्तृत्व का मिथ्या अभिप्राय मिटता है, और ऐसी अनुभूति का महान प्रयत्न प्रत्येक जीव को करने का है। सुखी होने के लिये यही करने का है।

अध्यात्मरस घोलन

[नवीन स्वाध्याय]

[१]

इस विभाग में ज्ञान-वैराग्यपोषक कोई सुगमशास्त्र का मात्र अनुवाद ही दिया जायेगा। यहाँ 'पाहुड़ दोहा' नामक अपभ्रंश भाषा की कृति का अनुवाद दे रहे हैं- जिसकी रचनाशैली परमात्म-प्रकाश तथा योगसार-दोहा जैसी है; इसमें २२२ दोहे हैं और रचना योगीन्द्रदेव की होने का अनुमान है; इसके द्वारा विधविध शैली से अध्यात्मरस का घोलन जिज्ञासुओं को रुचिकर होगा। इस काव्य का प्रथम अनुवाद स्व. प्रो. हीरालालजी जैन द्वारा किया गया था, उसी के आधार से संशोधनपूर्वक यह नया अनुवाद किया गया है। (संपादक)

१. जो परंपरा से आत्मा और पर का भेद दर्शाते हैं, ऐसे गुरु ही दिनकर हैं, गुरु ही हिमकरण-चंद्र हैं, गुरु ही दीपक है और वे गुरु ही देव है।

२. हे वत्स! जो सुख आत्मा के आधीन है, उसी से तू संतोष कर। जो पर में सुख का चिंतन करता है, उसके मन का सोच कभी नहीं मिटता।

३. विषयों से पराङ्मुख होकर अपने आत्मा के ध्यान में जो सुख होता है, वह सुख करोड़ों देवियों के साथ रमण करनेवाले इंद्र को भी नहीं मिल सकता।

४. विषयसुख को भोगते हुए भी जो अपने हृदय में उसको धारण नहीं करते (अर्थात् उसमें सुख नहीं मानते) वे अल्पकाल में शाश्वत सुख प्राप्त करते हैं—ऐसा जिनवर कहते हैं।

५. विषयसुख का उपभोग न करते हुए भी जो अपने हृदय में उसको भोगने का भाव धारण करते हैं, वे नर बेचारे, 'शालिसिक्ख' मच्छ की तरह, नरक में जा पड़ते हैं।

६. लोग आपत्ति के समय में अटपट बड़बड़ाते हैं, तथा पर से रंजित हो जाते

हैं, परंतु उससे कुछ भी सिद्धि नहीं होती; अपने मन की शुद्धता से तथा निश्चल स्थिरता से जीव परलोक को (-परमात्मदशा को) प्राप्त करता है।

७. धन्धे में पड़ा हुआ सकल जगत अज्ञानवश कर्म तो करता है, परंतु मोक्ष के कारणभूत अपने आत्मा का चिंतन एक क्षण भी नहीं करता।

८. जब तक यह आत्मा बोधि की प्राप्ति नहीं करता, तब तक स्त्री-पुत्रादिक में मोहित होकर दुःख सहता हुआ लाखों योनियों में परिभ्रमण करता है।

९. हे जीव! जिन्हें तू इष्ट समझ रहा है, ऐसे घर-परिजन और शरीर, ये सब पदार्थ तेरे से अन्य हैं, उन्हें तू अपना मत जान। ये सब जंजाल कर्मों के आधीन होकर आयी हुई है-ऐसा योगियों ने आगम में बताया है।

१०. हे जीव! मोह के वश में पड़कर तूने जो दुःख है, उसको सुख मान लिया; और जो सुख है, उसको दुःख मान लिया; इस कारण तूने मोक्ष नहीं पाया।

११. धन और परिजन का चिंतन करने से हे जीव! तू मोक्ष नहीं पा सकता; अतः तू अपने आत्मा का ही चिंतन कर—जिससे तू महान सुख को पावेगा।

१२. हे जीव! उस धन-परिजन को तू गृहवास मत समझ; वह तो दुष्कृत्य का धाम है और वह यम का फैलाया हुआ फन्दा है—इसमें संदेह नहीं।

१३. हे मूढ़जीव! बाहर की ये सब कर्मजाल है। प्रगट तुस को (भूसे को) तू मत कूट। घर-परिजन को शीघ्र छोड़कर निर्मल शिवपद में प्रीति कर।

१४. आकाश में (अर्थात् शुद्धात्मा में) जिसका निवास है, उसका मोह नष्ट हो जाता है, मन मर जाता है, श्वासोच्छवास छूट जाता है और वह केवलज्ञानरूप परिणमता है।

१५. सर्प बाहर में कांचुली को तो छोड़ देता है परंतु भीतर के विष को नहीं छोड़ता, उसीप्रकार अज्ञानी जीव द्रव्यलिंग धारण करके बाह्यत्याग तो करता है, परंतु अंतर में से विषयभोगों की भावना का परिहार नहीं करता।

१६. जो मुनि छोड़े हुए विषयसुखों की फिर से अभिलाषा करता है, वह मुनि केशलोचन एवं शरीर शोषण के क्लेश को सहन करता हुआ भी संसार में ही परिभ्रमण करता है।

१७. ये विषयसुख तो दो दिन रहनेवाले क्षणिक है, फिर तो दुःखों की ही परिपाटी है। इसलिये हे जीव! भूल करके तू अपने ही कंधे पर कुल्हाड़ी मत मार।

१८. जैसे दुश्मन के प्रति किये गये उपकार बेकार जाते हैं, वैसे हे जीव! तू इस शरीर को स्नान कराता है, तैलमर्दन करता है तथा सुमिष्ट भोजन खिलाता है, वे सब निरर्थक जानेवाले हैं, अर्थात् यह शरीर तेरा कुछ भी उपकार करनेवाला नहीं है, अतः तू इसकी ममता छोड़ दे।

१९. अस्थिर मलिन और निर्गुण ऐसी काया से यदि स्थिर निर्मल तथा सारभूत गुणवाली क्रिया वृद्धिंगत होती हो तो वह क्रिया क्यों न की जाये? (अर्थात् यह शरीर विनाशी, मलिन एवं गुणरहित है, उसकी ममता छोड़कर उसमें स्थित अविनाशी पवित्र एवं सारभूत गुणवाले आत्मा की भावना करना चाहिये।)

२०. विष भला, विषधर भी भला, अग्नि या वनवास का सेवन भी अच्छा, परंतु जिनधर्म से विमुख ऐसे मिथ्यादृष्टियों का सहवास अच्छा नहीं।

२१. जो जीव मूलगुणों का उन्मूलन करके उत्तरगुणों में संलग्न रहता है वह, डाली को चूके हुए बंदर की तरह नीचे गिरकर भग्न होता है। (मूलगुण से भ्रष्ट जीव साधुपने से भ्रष्ट होता है।)

२२. यदि तूने आत्मा को नित्य एवं केवलज्ञानस्वभावी जान लिया तो फिर हे वत्स! शरीर के ऊपर तू अनुराग क्यों करता है?

२३. यहाँ चौरासी लाख योनियों के मध्य में ऐसा कोई प्रदेश बाकी नहीं रहा कि जहाँ, जिनवचन को न पाकर इस जीव ने परिभ्रमण न किया हो।

२४. जिसके चित्त में ज्ञान का विस्फुरण नहीं हुआ है, तथा जो कर्म के हेतु को (पुण्य-पाप को) ही करता है, वह मुनि सकल शास्त्रों को जानता हुआ भी सुख को नहीं पाता।

२५. बोधि से विवर्जित हे जीव! तू तत्त्व को विपरीत मानता है, क्योंकि कर्मों से निर्मित भावों को तू आत्मा का समझता है।

२६. मैं गोरा हूँ, मैं साँवला हूँ, मैं विभिन्न

वर्णवाला हूँ, मैं दुर्बलांग हूँ, मैं स्थूल हूँ—ऐसा हे जीव! तू मत मान।

२७. तू न पंडित है, न मूर्ख; न ईश्वर है, न सेवक; न गुरु है, न किसी का शिष्य; ये सब विशेषता कर्मजनित हैं। (स्वभाव से सर्व जीव एकसमान ज्ञानस्वरूपी हैं।)

२८. हे जीव! तू न किसी का कारण है, न कार्य; तू न स्वामी है, न सेवक; न शूर है न कायर; और न उत्तम है, न नीच।

२९. पुण्य-पाप, काल, आकाश, धर्म, अधर्म एवं काया—ये भी तू नहीं है; हे जीव! चेतनभाव को छोड़कर इनमें से एक भी तू नहीं है। (जीव के अशुद्धभाव तथा पाँच अजीव—इनसे भिन्न शुद्धचेतनभाव ही तू है।)

३०. तू न गौरा है, न श्याम; एक भी वर्णवाला तू नहीं है; दुर्बल शरीर या स्थूल शरीर, वह भी तू नहीं है; ये सब वर्णसहित (जड़) है; तेरा स्वरूप उनसे भिन्न समझ।

३१. न मैं श्रेष्ठ ब्राह्मण हूँ, न वैश्य हूँ, क्षत्रिय या अन्य भी मैं नहीं हूँ; उसीप्रकार पुरुष, नपुंसक या स्त्री भी मैं नहीं हूँ—ऐसा विशेष जान।

३२. मैं तरुण हूँ, बूढ़ा हूँ, बालक हूँ, शूर हूँ, दिव्य पंडित हूँ, क्षपणक अर्थात् दिगम्बर हूँ, वंदक या श्वेताम्बर हूँ—ऐसा कुछ भी चिंतन तू मत कर।

३३. हे जीव! देह का जरा-मरण देखकर तू भय मत कर; अपने आत्मा को तू अजर-अमर-परम ब्रह्म जान।

३४. जरा तथा मरण ये दोनों देह के हैं, विचित्र वर्ण भी देह के ही हैं; और हे जीव! रोग को भी तू शरीर का ही जान, एवं लिंग भी शरीर के ही हैं।

३५. हे आत्मन्! निश्चय से तू ऐसा जान कि इनमें से एक भी संज्ञा जीव के नहीं है; जरा या मरण ये दोनों नहीं है, रोग नहीं है, तथा लिंग या वर्ण भी नहीं है।

३६. हे जीव! यदि तू कर्म के भाव को आत्मा कहता है, तो परमपद को तू नहीं पा सकेगा, किंतु अब भी संसार में ही भ्रमण करेगा।

३७. ज्ञानमय आत्मा के अतिरिक्त अन्य सब भाव पराया है; उसे छोड़कर हे जीव! तू शुद्ध स्वभाव का ध्यान कर।

३८. जो वर्ण से रहित है, जो ज्ञानमय है, जो सद्भाव को भाता है, जो संत और निरंजन है, वही शिव है (-कल्याणरूप

है), अत: उसी में अनुराग करो।

३९. तीन भुवन में देव तो जिनवर ही दिखता है, और जिनवरदेव में ये तीन भुवन दिखते हैं; जिनवर के ज्ञान में सकल जगत दृष्टिगोचर होता है, उसमें कोई भेद न करना चाहिये।

४०. कोई कहता है कि हे जीवो! तुम जिनको जानो... जानो! किंतु यदि ज्ञानमय आत्मा को देह से अत्यंत भिन्न जान लिया, तो भला! और क्या जानने का शेष रहा?

४१. कोई कहता है कि हे जीवो! तुम जिनवर को वंदो... जिनवर को वंदो! परंतु यदि अपने देह में ही स्थित परमार्थ को जान लिया, तो फिर भला अन्य किसकी वंदना करना शेष रहा?

४२. जिसप्रकार हाथी का बच्चा अथवा ऊँट कमल को देखकर अपना बंधन तोड़कर विचरण करने लगते है, उसीप्रकार जिसका मन अक्षयिनी-रामा (मुक्ति-रमणी) में लगा हुआ है, ऐसा बुधजन जगत में (संसार बंधन में) रति कैसे करे? (-वह संसार के बंधन तोड़कर मोक्षमार्ग में विचरता है।)

(दूसरा अर्थ -) अक्षय ऐसी मोक्ष-सुंदरी में जिसका चित्त लगा है, वह बुधजन संसार में रति क्यों करे? अत: हे जीव! तू ऊँट के ऊपर पलान रख और उसके बंधन खोल दे—जिससे कि वह मोक्ष की ओर आगे बढ़े।

४३. हे जीव! पाँच इन्द्रियों के संबंध में तू ढीला मत हो। (उग्रता से उन्हें वश में रख।) इनमें भी दो का निवारण कर-एक तो जीभ को रोक और दूसरी पराई नार को छोड़।

४४. रे जीव! तूने न तो पाँच बैल रखे, और न कभी तू नंदन वन में गया—यों ही परिव्राजक कैसे बन गया? वैसे तूने न तो आत्मा को जाना, न पर को जाना—ऐसे ही परिव्राजक बन बैठा! (जिसने पाँच इन्द्रियरूपी बैल को वश में नहीं किया, और न स्व-पर का भेदज्ञान करके चैतन्य के नंदन वन में प्रवेश किया, उसको प्रव्रज्या नहीं होती।)

४५. हे सखी! पियु को तो बाहिर में पाँच का स्नेह लगा है; जो दुष्ट अन्य के साथ मिला हुआ है, उसका स्वघर में आगमन नहीं दिखता। (पाँच इन्द्रियों के विषय में फँसा हुआ जीव स्वपरिणति के आत्मिक

आनंद का अनुभव नहीं कर सकता।)

४६. मन चिंतारहित-निश्चिंत होकर जब सो जाता है (अर्थात् एकाग्र होकर थंभ जाता है) तभी वह उपदेश को समझ सकता है और अचित्त वस्तु से अपने चित्त को जो अलग करता है वही निश्चिंत होता है।

४७. जो आगे देखता हुआ मार्ग में (ध्येय की सम्मुख) चल रहा है, उसके पैर में कदाचित् कांटा लग जाये तो लग जावे; इसमें इसका दोष नहीं है। (साधक को पूर्वकृत कोई अशुभ उदय आ जाये तो इसमें वर्तमान आराधना का तो कोई दोष नहीं है।)

४८. उसे स्वतंत्र छोड़ दो... मुक्त कर दो... स्वाधीनता से उसे जहाँ जाना हो, वहाँ जाने दो; सिद्धि-महापुरी की ओर उसे आगे बढ़ने दो। कुछ हर्ष-विषाद न करो। (आत्मा को इन्द्रियविषयों के बंधन से मुक्त करके मोक्षपुरी की ओर आनंद से जाने दो। जो मन पाँच इन्द्रिय के विषय से मुक्त हुआ, वह सिद्धपुरी की ओर अग्रसर होता है।)

४९. मन तो परमेश्वर में मिल गया, और परमेश्वर मन से मिल गया; दोनों एक रस-समरस हो रहे हैं, तब मैं पूजन-सामग्री किसको चढ़ाऊँ?

५०. हे जीव! तू देव का आराधन करता है, परंतु तेरा परमेश्वर कहाँ चला गया? जो शिव-कल्याणरूप परमेश्वर सर्वांग में विराज रहा है, उसको तू कैसे भूल गया?

(क्रमशः)

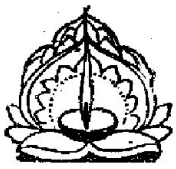

—: माता से प्यार :—

(जिनवाणी स्तवन)

मुझको अपने आगम की वाणी से अनुपम प्यार है,
इस वाणी को जन्म दिया था, त्रिशलानंदन 'वीर' ने,
इस वाणी की महिमा गाई, कुन्दकुन्द आचार्य ने।
इस आगम के आगे मस्तक झुकता बारंबार है,
मुझको अपने आगम की वाणी से अनुपम प्यार है॥
इस वाणी की अनुपम गाथा, गाई 'अमृतचंद्र' ने;
इस वाणी को धारो भैया, चल दो समयसार में।
सीमंधर की दिव्यध्वनि की छाई इसमें बहार है;
मुझको अपने आगम की वाणी से अनुपम प्यार है॥
अपने अपने अंदर देखो, निज आतम भगवान है,
इस वाणी से अनुभव कर लो, हो जाये कल्याण है।
इस अनुभव को पाओ हर क्षण चेतन-चमत्कार है;
मुझको अपने आगम की वाणी से अनुपम प्यार है॥

[संतोषकुमार जैन, वीना]

वीर निर्वाणमहोत्सव में वीर बालकों का उत्साह

ढाई हजारवर्षीय-वीर निर्वाण महोत्सव में वीर बालकों ने ढाई हजार ऐसे (२,५००) बालविभाग में भेजे हैं, उनकी यादी—

५९५ प्रेमचंद मगनलाल सेठ, राणपुर
५९६ हसमुखलाल केशरीमल जैन, शिवगंज
५९७ बालचंद खेमचंद जैन, बाहुबली
५९८ चंद्रेश जैन, दिल्ली
५९९ राजमल जैन, उदेपुर
६०० बी. के. कामदार, बम्बई
६०१ शशी जैन सुपुत्री पद्मावती जैन, ईम्फाल
६०२ सुवर्णाबेन लालचंद महेता, मलाड
६०३ एक बहन की ओर से, बांकानेर
६०४ कल्पनाबेन किशोरचंद जैन, सुरेन्द्रनगर
६०५ कीर्ति वसंतलाल जोबालीया, बम्बई
६०६ धीरजलाल मंगजीभाई चोवीटीया, कलकत्ता
६०७ कंचनबेन धीरजलाल जैन, कलकत्ता
६०८ रजनीकांत धीरजलाल जैन, कलकत्ता
६०९ भारतीबेन रजनीकांत जैन, कलकत्ता
६१० भावेशकुमार रजनीकांत जैन, कलकत्ता
६११ बीनाबेन रजनीकांत जैन, कलकत्ता
६१२ पुनिताबेन रजनीकांत जैन, कलकत्ता

[इसके उपरांत पुष्पराज चोपडा संबलपुरवाला की ओर से रुपये १०१ आत्मधर्म के प्रचारार्थ आये हैं।] (दिनांक १२-६-७५ तक)

साधर्मीजनों की तत्त्वचर्चा

जब दो साधर्मी मिलते हैं तो एक-दूसरे को देखकर सहज ही प्रसन्नता होती है; और यदि धर्म की विविध चर्चा हो तो विशेष आनंद होता है... तथा इससे भी आगे बढ़कर यदि स्वानुभूति की गंभीर चर्चा हो तब तो, कैसा मजा आये!! इस विभाग में साधर्मीजनों की ऐसी चर्चायें पढ़कर आपको प्रसन्नता होगी। आईए.... आप भी धर्मचर्चा में सम्मिलित होकर आनंद में साथीदार बनिये।

(—सं.)

❀ चारित्र और सम्यक्त्व ❀

एक मुमुक्षु — चारित्रदशा धारण करने पर ही मोक्ष होगा।

दूसरा मुमुक्षु — यह बात बिल्कुल सत्य है। परंतु चारित्रदशा सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होती है। सम्यग्दर्शन से रहित आचरन की मोक्षमार्ग में कुछ भी गिनती नहीं है; अतः प्रथम सम्यग्दर्शन की आराधना करना चाहिये। सम्यग्दर्शन ही मोक्षमार्ग में प्रवेश पाने का परवाना (टिकट) है, यदि इसके बिना मोक्षमार्ग में प्रवेश करने की चेष्टा करेगा तो तू अपराधी बनेगा।

❀ सुख..... ज्ञान से मिलेगा, राग से नहीं ❀

एक मुमुक्षु — भैया! अनेकविध शुभभाव करते हुए भी जीव को जरा भी सुख क्यों नहीं मिलता?

दूसरा मुमुक्षु — अरे भाई! सुख कहीं राग से मिलता है?-ना; सुख तो ज्ञान से ही मिलता है। पंच महाव्रत का शुभराग भी अज्ञानी को किंचित्मात्र सुख का कारण नहीं होता;—कहाँ से हो? वह तो राग है। राग कहीं सुख का कारण होता है?—ना, राग के फल में तो बाहर के संयोग मिले और अंदर में आकुलता हो, परंतु कहीं चैतन्य की शांति राग से नहीं मिलती। आत्मा के अतीन्द्रिय स्वरूप को जाननेवाला सम्यग्ज्ञान ही सुख का कारण है। चैतन्य के ज्ञान से ही शांति का वेदन होता है। ('ज्ञान समान न आन जगत में सुख को कारन।')

❀ पीच्छी और मोक्ष ❀

एक मुमुक्षु — पीच्छी लिये बिना मोक्ष नहीं होगा!

दूसरा मुमुक्षु — ठीक है; और पीच्छी के छोड़े बिना भी मोक्ष नहीं होगा। (अतः पीच्छी मोक्ष का कारण नहीं ठहरा, मोक्ष का कारण कोई दूसरा ही है, उसे तुम आत्मा में खोजो।)

❀ वीरता (क्षण में सब त्याग दिया।) ❀

एक मुमुक्षु — वीरता किसमें हैं ?—संग्रह करने में ? या त्याग में ?

दूसरा मुमुक्षु — चक्रवर्ती को ९६००० रानी तथा षट्खंड का परिग्रह इकट्ठा करने में (दिग्विजय में) कितने ही वर्ष बीत जाते हैं, एक क्षण में ये सभी परिग्रह इकट्ठा नहीं हो जाता; किंतु उन ९६००० रानियाँ तथा षट्खंड का वैभव—ये सब परिग्रह के छोड़ने में तो एक ही क्षण लगती है; उसमें वर्षों नहीं लगते। जहाँ आत्मा में विरक्तदशा जागी कि एक ही क्षण में सब छोड़कर संसार से दूर चले गये। बस, भोगों में ऐसी वीरता नहीं है—जैसी कि त्याग में। (वीतरागता में ही सच्ची वीरता है, राग में नहीं)।

❀ भेदज्ञान से सिद्धि ❀

एक मुमुक्षु — अनन्त जीवों ने सिद्ध पद पाया, कैसे पाया ?

दूसरा मुमुक्षु — सिद्धपद पाये सभी वे भेदज्ञान-प्रभाव से।
अरु बद्ध हुये जीव वे सब भेदज्ञान-अभाव से॥

भेदज्ञान ही मुक्ति सुख पाने का उपाय है; यह जानकर हे जीव! अच्छिन्नधारा से तू भेदज्ञान की भावना कर; रागादि परभाव से भिन्न शुद्धात्मा को जानकर निरंतर उसे ही भा।—अल्प काल में तू सिद्धपद पावेगा।

एक मुमुक्षु — केवलज्ञानी तो वीतराग है, अतः केवलज्ञान में तो राग का कर्तृत्व नहीं होता, परंतु साधक का ज्ञान तो अपूर्ण है-उसमें तो राग का कर्तृत्व होता है न ?

दूसरा मुमुक्षु — सुनो भैया! जिसप्रकार सुवर्ण का बड़ा टुकड़ा लोहे से जुदा है, उसीप्रकार सुवर्ण का छोटा कण भी लोहे से जुदा ही है; बड़ा सोना या छोटा सोना—दोनों की

जाति एक है; उसीप्रकार बड़ा ज्ञान या छोटा ज्ञान–दोनों की जाति एक है; अतः जिसप्रकार केवलज्ञान राग से जुदा है, उसीप्रकार साधक का छोटा ज्ञान भी राग से जुदा ही है। एक ही पिता के दो पुत्र की तरह केवलज्ञान तथा मतिज्ञान—दोनों ज्ञान की ही जाति है, एक ही ज्ञान का परिणमन है; जैसे केवलज्ञान में राग का कर्तृत्व नहीं है, वैसे सम्यग्दृष्टि के मति–श्रुतज्ञान में भी ज्ञान से भिन्न रागादि का कर्तृत्व नहीं है। ज्ञानस्वभाव में ही तन्मय रहकर परिणमन करनेवाला उसका ज्ञान भी केवलज्ञान की तरह ही राग का तथा पर का ज्ञाता है, उनसे भिन्न रहकर वह उनको जानता है। ऐसे ज्ञान के साथ अतीन्द्रियसुख भी होता ही है; और वह वृद्धिगत होता हुआ केवलज्ञानरूप होकर महान सर्वोत्कृष्ट सुख को साधता है। अहो, ऐसे सुख की महिमा का क्या कहे ? ऐसे ज्ञानस्वभाव को पहचानकर उसका सेवन करो।

❀ गणधरदेव की तरह.... हम भी सर्वज्ञ के पुत्र हैं ❀

एक मुमुक्षु—मोक्ष के साधक सम्यग्दृष्टि की निःशंकता कैसी होती है ?

दूसरा मुमुक्षु—अहा, उसकी क्या बात ! मति–श्रुतज्ञानी सम्यग्दृष्टि जानते हैं कि हम भी सर्वज्ञपद के साधनेवाले, सर्वज्ञ के पुत्र हैं। एक ही पिता के दो पुत्र की तरह केवलज्ञान तथा मतिज्ञान दोनों की जाति एक ही है। गणधर–मुनिवर वे बड़े पुत्र हैं और हम अविरत–सम्यग्दृष्टि छोटे पुत्र हैं, भले छोटे किंतु है तो सर्वज्ञ के ही पुत्र, अतएव राग से भिन्न हुए है और मोक्ष को साध रहे हैं। ज्ञान और राग की भिन्नता का भेदज्ञान करके, राग के साथ का नाता तोड़ दिया है और सर्वज्ञपद के साथ सगाई कर दी है, इसलिये हमारा चित्त परम शांत हुआ है, और गणधरादि की तरह हम भी आनंद से प्रभु के मोक्षमार्ग में चल रहे हैं। श्री गौतम–गणधर को 'सर्वज्ञपुत्र' कहा है; ('साक्षात् सर्वज्ञपुत्र...' आदिपुराण २–५४) पंडित बनारसीदासजी ने सम्यग्दृष्टि को 'जिनेश्वर का लघुनंदन' कहा है। वे मुनिवर बड़े पुत्र हैं और सम्यग्दृष्टि चतुर्थ गुणस्थानी छोटा पुत्र है, छोटा सही, किंतु है सर्वज्ञ के पुत्र, सर्वज्ञ की ही जाति का। जैसे छोटा भी सिंह का बच्चा बड़े हाथी को भी भगा देता है, वैसे सम्यग्दृष्टि भले छोटा हो परंतु है तो सर्वज्ञ का पुत्र, उसका ज्ञान भले थोड़ा हो परंतु वह सर्वज्ञ की जाति का सम्यग्ज्ञान ही है, उसमें समस्त मोहरूपी हस्ती को भगा करके सिद्धपद प्राप्त करने की ताकत है।

❀ महिलाओं के उत्कर्ष का वर्ष ❀

एक मुमुक्षु बहन—जीजी ! सुना है कि अभी सारी दुनियाँ इस वर्ष को महिलाओं की

उन्नति के लिये 'महिला वर्ष' के रूप में मना रही है; तो क्या हम सब बहनों को भी उसमें भाग नहीं लेना चाहिये ?

दूसरी मुमुक्षु बहन—अवश्य भाग लेना चाहिये, बहन! किंतु इसके लिये हम क्या करेंगे! क्या इसके लिये हम 'आत्मधर्म' से पूछायेंगे ?

— नहीं बहन, हमें पूछाने की भी आवश्यकता नहीं; देख, इसी पत्रिका में पृष्ठ २७ पर इस बारे में लेख आया है, उसे ध्यान से पढ़ ले; उसमें बहुत सुंदर विचार लिखा है।

❀ ❀ ❀

❀ एक मुमुक्ष बहन लिखती है—आत्मधर्म मेरा परम मित्र है जो पग पग पर आनेवाले प्रतिकूल प्रसंगों पर मेरे परिणामों की सम्भाल करता है, और मुझे कषायरूपी अग्नि में जलने से बचाता है। इसके बिना मुझे चैन नहीं पड़ती।

❀ दिल्ली से महेन्द्र मेहता शुभेच्छा के साथ लिखते हैं कि 'आत्मधर्म' पत्रिका प्राप्त कर अजीबोगजब प्रसन्नता का अनुभव कर रहा हूँ। संपादन में वर्तमान तथ्य मूल को दृष्टिगत रख, साथ ही अनुकूल चित्रों के समावेश ने पत्रिका में और भी जान डाल दी है। धन्यवाद!

* एक जैनबंधु (जिसने अपना पता नहीं लिखा) लिखते हैं कि—हमने इस माह का आत्मधर्म आज पहली बार पढ़ा; जिसको पढ़कर ऐसा लगा कि धर्म भी कुछ चीज़ है; तथा संसार नश्वर है। हम सुन रहे थे कि सोनगढ़ जाकर आत्मा को कितनी शांति मिलती है! वहाँ पर यदि हवा भी चलती है और पशु-पक्षी भी बोलते हैं तो ऐसा लगता है, जैसे सब मुक्ति का मार्ग बोल रहे हैं; जगह-जगह धर्मचर्चा हो रही है।—यह धर्मचर्चा सुनकर आत्मा को शांति मिलती है। (लेखक महोदय ने इसके बाद महिला समाज की उन्नति के लिये कोई सूचना माँगी है, सो इस संबंध में एक लेख आप इस अंक में ही पढ़ेंगे। —सं.)

❀ ❀ ❀

❀ भगवान महावीर का बहुत बड़ा उपकार है... उनका उत्सव आनंद से मनाओ। ❀

❀ ज्ञान से-भक्ति से-वैराग्य से एवं तन से-मन से-धन से उत्सव की शोभा बढ़ाओ। ❀

विश्व में महिला वर्ष.... और.... मुमुक्षु बहनों का कर्तव्य

मुमुक्षु बहनों! तुमने सुना तो होगा कि अभी इस वर्ष को सारा विश्व 'महिला-वर्ष' के रूप में मना रहे हैं; इसका आयोजन महिलाओं की उन्नति के लिये ही हुआ है; अत: तुम भी अपनी उन्नति के लिये महिला वर्ष में किसप्रकार भाग ले सकती हो! इसका यहाँ विचार करना है।

बहन! तुम मुमुक्षु हो, मुमुक्षु का ध्येय होता है—आत्मिक उन्नति... अर्थात् आत्मिक शांति। इसलिये तुम्हें ऐसा करना चाहिये कि जिसमें आत्मशांति प्राप्त हो।

तुम्हें प्रश्न होगा कि हमें क्या करना चाहिये ?-तो सुनो! प्रथम तो तुम्हें ऐसी सर्वोत्तम महिलारत्न को खोजना चाहिये कि जो आत्मिक विकास के द्वारा उन्नति के शिखर पर पहुँची हो। उसको पहिचानकर तथा उसका आदर्श लेकर तुम भी इस महिला वर्ष में उसके जैसी होने का सज्जड़ प्रयत्न करो... और इसप्रकार 'महिलावर्ष' में आत्मोन्नति का सच्चा लाभ ले लो।

अत: इस विभाग में भाग लेनेवाली हमारी बहनें मुमुक्षु बहिनें हैं। अत: उन्हें कोई बाहरी आकांक्षायें (राज्यपद आदि की) नहीं होती, उन्हें मात्र आत्मलाभ की आकांक्षा है; अत: बाहर में सर्वोच्च प्रधानमन्त्री पद तक पहुँची हुई महिला या उसकी प्रधानमंत्रीपदवी भी हमारी मुमुक्षु बहिनों के चित्त को आकर्षित नहीं कर सकती; मुमुक्षु का आकर्षण तो इससे कोई अन्य ही है; चैतन्य की अनुभूति में ही उसकी आकांक्षा तथा आकर्षण है; और ऐसी आत्मअनुभूति की सफलता को प्राप्त सर्वोत्कृष्ट महिला अभी भारत में पूज्य श्री चंपाबहन है-जो कि इस पत्र के संपादक की परमउपकारी माँ है। उनको पहचानकर, उनकी आत्म-अनुभूति को पहचानकर और उस अनुभूति का उपाय पाकर, इसी वर्ष में सज्जड सफल प्रयत्न के द्वारा वैसी अनुभूति प्राप्त कर लेना-यही महिलावर्ष का सर्वोत्तम कार्यक्रम है, उसी में महान लाभ है और उसी में आत्मा की उन्नति है। एक ओर हजारे महावीर भगवान के मोक्ष का ढाई हजारवर्षीय-महोत्सव का वर्ष और उसी के साथ में महिलाओं के उत्कर्ष का वर्ष! दोनों का कैसा सुभग सुमेल हो गया है! मुमुक्षु बहनों, जागो! इस वर्ष को तुम्हारी उन्नति का ही वर्ष बना दो। जब सर्वोत्कृष्ट महिलारत्न तुम्हें मिल चुका है, तो वीरनिर्वाण के इस वर्ष के साथ ऐसे

आनंद से महिलावर्ष भी मना लो कि तुम्हारी आत्मिक उन्नति को देखकर दुनिया भी दंग रह जाये! और हमारे वीरशासन की शोभा बढ़े। जागो.. जागो बढ़ो... अन्यत्र कहीं भी रुको मत! तुम्हारे इस वर्ष को तुम्हारी आत्मिक उन्नति का ही वर्ष बना दो।

बहनों, महिलावर्ग के अंतर्गत एक महिला सप्ताह ऐसा मनाओ कि जिसमें मात्र मुमुक्षुता की ही पुष्टि हो। आठ दिन तक मुमुक्षुता का ऐसा जोशदार प्रयत्न कर दो कि जीवन में कहीं राग-द्वेष-अशांति दिखे ही नहीं, सर्वत्र परम वात्सल्य तथा शांति ही शांति दिखे और आत्मअनुभूति हो जाये। कब मनाओगे यह सप्ताह? मेरे ख्याल से वात्सल्यपर्वती श्रावणी-पूर्णिमा से प्रारंभ करके 'मुमुक्षु-महिला सप्ताह' मनाया जाये-क्योंकि भारत का सर्वोत्कृष्ट महिलारत्न हमें उसी सप्ताह में मिला है। अहो, धर्म के ऐसे रत्न को पाकर जागृत बनो और मुमुक्षुता की अपूर्व जागृति से आत्मलाभ पाकर दुनिया में जैनशासन का विजय डंका बजा दो।

आठ दिन के मुमुक्षुता के उत्सव में आत्मअनुभूति का ही लक्ष रखकर आत्मिक विचारधारा में ऐसा जोशदार प्रयोग करना कि कहीं वैर-विरोध की कल्पना भी न रहे, अपनी प्रवृत्ति स्व-पर सभी को शांति का ही कारण हो। मुमुक्षुता की आत्मधुन में सारे संसार का विस्मरण करके, देव-गुरु के मार्ग में आत्मा को ऐसा लगा देना कि यह आत्मा भी आत्म-अनुभूति पा करके उनकी पंक्ति में बैठ जाये। 'जय महावीर' (संपादक)

❀❀❀❀

सोनगढ़ में जैनदर्शन शिक्षणवर्ग

प्रतिवर्ष की तरह इस वर्ष भी सोनगढ़ में तत्त्वजिज्ञासु जैन भाईओं के लिये जैनसिद्धांत का शिक्षणवर्ग २० दिन तक चलेगा। यह शिक्षणवर्ग श्रावण सुद पंचमी दिनांक ११-८-७५ सोमवार से प्रारंभ होकर भाद्र वद ८ (गुजराती श्रावण वद ८) दिनांक ३०-८-७५ शनिवार तक चलेगा।

वर्ग में मोक्षमार्गप्रकाशक, द्रव्यसंग्रह तथा जैनसिद्धांत प्रश्नोत्तरमाला की पढ़ाई होगी। आपके पास ये पुस्तकें हो तो साथ में लाईए। शिक्षणवर्ग में आने की जिसकी भावना हो वे अपने आने की सूचना निम्न पते पर अवश्य भेज दें।

'शिक्षणवर्ग' - श्री दिगम्बर जैन स्वाध्यायमंदिर, सोनगढ़ (३६४२५०)

मोक्षमार्ग में वीतरागी चारित्र के चमकार

जैसे सम्यग्दर्शन और आत्मज्ञान के बिना मोक्ष नहीं होता—यह परम सत्य है, वैसे यह भी इतना ही सत्य है कि वीतरागी चारित्र के बिना मोक्ष नहीं होता। अत: मोक्षार्थी को सम्यग्दर्शन के साथ सम्यक्चारित्र भी अत्यंत प्रिय है।

जिसने समस्त कषायों से अत्यंत भिन्न अपने उपयोगस्वभाव को जानकर सम्यग्दर्शन तथा भेदज्ञान किया है, उसको वीतरागभाव की वृद्धि होने पर श्रावकदशा तथा मुनिदशा होती है; उसमें चारित्र के वीतरागी चमकार से आत्मा सुशोभित होता है।

शास्त्रों की लाखों बातों का यही सार है कि शुभ-अशुभ, पुण्य-पाप, हर्ष-शोक इत्यादि सभी संसार के द्वन्द्वों से रहित शुद्धचेतनास्वरूप आत्मा है—इसको जानना, श्रद्धान करना, ध्यान करना। बाद में उसी में एकाग्रता के द्वारा आत्मशांति बढ़ती है और रागादि कषायभाव मिटता है,—इतने प्रमाण में चारित्रदशा होती है।

आत्मा की चारित्रदशा रागरूप नहीं है परंतु वीतरागभावरूप है, उसमें कषाय नहीं किंतु परम शांति है, वह स्वर्ग के भव का कारण नहीं है परंतु मोक्ष का कारण है, वह दु:खरूप नहीं अपितु सुखरूप है। ऐसी चारित्रदशा के साथ में उस भूमिका के योग्य जो राग शेष रह जाये, वह अत्यंत मर्यादित होता है।

चतुर्थ गुणस्थान में सम्यग्दृष्टि को आंशिक वीतरागभाव हुआ है, परंतु व्रतभूमिका के योग्य वीतरागभाव अभी उसे नहीं हुआ। अत: वह 'अविरत' है। उसको अनंतानुबंधी क्रोध-मान-माया-लोभ के अभावरूप 'स्वरूपाचरण' तो है तथा इतनी आत्मशांति भी निरंतर वर्तती है; परंतु हिंसादि पापों के नियमपूर्वक त्यागरूप चारित्र श्रावक को तथा मुनि को होता है; उनमें श्रावक को पंचम गुणस्थान में यद्यपि देशचारित्र होता है, फिर भी वे सर्वार्थसिद्धि के देवों से भी अधिक सुखी हैं।—अहा, चारित्रदशा कैसी महिमावंत है!

चारित्र में सम्यक्ता सम्यग्दर्शन-ज्ञान के बिना नहीं आती, इस अपेक्षा से सम्यग्दर्शन-ज्ञान को सम्यक्चारित्र का कारण कहा है। सम्यग्दर्शन से रहित अकेले बाह्य क्रियाकांड या शुभरागरूप व्रत, ये कोई सच्चा चारित्र नहीं है, अतः वे कोई मोक्षमार्ग में काम नहीं आते; ऐसा रागरूप चारित्र तो अज्ञानसहित जीव अनंतबार कर चुका है। आठ कषाय के अभावरूप एकदेश वीतरागीचारित्र (देशचारित्र) सम्यग्दृष्टि के ही होता है; और इससे आगे सकलचारित्र तो बारह कषाय के अभाववाले निर्ग्रंथ-दिगंबर मुनियों के ही होता है। ऐसा चारित्र मोक्ष का कारण है; उसकी महिमा अपार है।

चारित्र के बिना मोक्ष नहीं—यह बात सत्य है; परंतु वह चारित्र कौन-सा? जैसा ऊपर कहा वैसा वीतरागी चारित्र ही मोक्ष का कारण होता है, अन्य नहीं। चैतन्यस्वरूप में एकाग्रता से ही वीतरागभावरूप चारित्र होता है। ऐसे चारित्र का स्वरूप पहचानकर सम्यग्दर्शन-ज्ञानपूर्वक अपने परिणाम की शुद्धता के अनुसार दृढ़ चारित्र धारण करना; अधिक शक्ति न हो तो कम चारित्र लेना परंतु चारित्र में शिथिलाचार नहीं रखना; दृढ़ पालनपूर्वक शुद्धता बढ़ती जाये ऐसा करना।

धर्मी-श्रावक को यद्यपि मुनि जैसा चारित्र नहीं होता परंतु उसको भावना तो मुनिदशा की रहती है। उसकी भावनापूर्वक वह हिंसादि पापों को नियमपूर्वक छोड़कर अहिंसादि व्रतों का पालन करता है।

जिज्ञासु को यह बात ध्यान में रखना चाहिए कि व्रतों का पालन सम्यग्दर्शनसहित हो, तभी वह सच्चा है, और उसमें भी जितनी शुद्धता तथा वीतरागभाव है, इतना ही मोक्ष का कारण है; जो शुभराग है, वह पुण्यकर्म के बंध का कारण है, मोक्ष का नहीं।

अहा, चैतन्यसाधना में मशगुल मुनियों की तो क्या बात! वे तो अतीन्द्रिय आनंद का प्रचुर स्वसंवेदन करनेवाले महाव्रती हैं; उन्हें मात्र जल-रेखा जैसा अति मंद संज्वलनकषाय शेष रहा है, बारह कषाय के अभाव से अतीन्द्रिय शांति बहुत बढ़ गई है; श्रावक, मुनि से जरा छोटा है, परंतु उसे भी चैतन्य की अतीन्द्रिय शांति का निर्विकल्प वेदन बराबर हुआ करता है। ऐसे व्रतधारी पंचम गुणस्थानी आत्मअनुभवी असंख्यात श्रावक ढाई द्वीप से बाहर हैं, वे सब तिर्यंच हैं। ढाई द्वीप से बाहर मनुष्यों का गमन नहीं होता। मनुष्यों में श्रावक संख्यात ही है।

मनुष्य की अपेक्षा तिर्यंचों में श्रावकों की अधिक संख्या है। फिर भी मनुष्यों में सम्यग्दृष्टि जीवों की संख्या शास्त्र में अरबों की कही गई है।

ढाई द्वीप से बाहर जो असंख्य द्वीप-समुद्र हैं, उनमें भोगभूमि जैसी रचना है, वहाँ उत्पन्न होनेवाले जीवों को व्रत या श्रावकपना नहीं होता; परंतु अंत के स्वयंभूरमण द्वीप के आधे भाग में तथा स्वयंभूरमण समुद्र में कर्मभूमि जैसी रचना है, उसमें तिर्यंच ही रहते हैं, उन्हें पंचम गुणस्थानरूप श्रावकदशा हो सकती है; वे व्रती-श्रावक-तिर्यंच सामायिक भी करते हैं। कुछ पाठ बोलना-उसी का नाम तो सामायिक नहीं है, किंतु आत्मा में अकषायभाव होने पर चैतन्य में से समतारस की धार बहने लगे, उसको सच्ची सामायिक कहते हैं; समतारूप आत्म परिणति का होना, यही सामायिक है। ऐसी सामायिक तिर्यंच के भी होती है। वाह, सिंह-हाथी-सर्प आदि तिर्यंच को भी सम्यग्दर्शनपूर्वक सामायिक होती है। देखो, महाराजा रावण का हाथी-त्रिलोकमंडन (-राम जिसको अपने साथ अयोध्या लाये थे) वह भी जातिस्मरण तथा सम्यग्दर्शनसहित व्रतधारी श्रावक हुआ था; महावीर का जीव भी सिंहपर्याय में सम्यग्दर्शन प्रगट कर व्रतधारी श्रावक हुआ था।

पंचमगुणस्थानी श्रावक गृहस्थी भी हो सकता है, उसे स्त्री-पुत्रादिक भी हो; कोई स्त्री भी श्राविका होती है, वह रसोई आदि गृहकार्य भी करती है; और उसमें आरंभजनित कुछ हिंसा भी होती है; परंतु त्रसजीव को संकल्प से मारने का भाव उसे नहीं होता; चूहे-खटमल आदि को भी जानबूझकर श्रावक कभी नहीं मारता। अरे, सामान्य दयालु सज्जन के भी ऐसे क्रूर परिणाम नहीं होते; श्रावक तो अत्यंत करुणावंत होता है, किसी को दुःख देने की वृत्ति उसे नहीं होती। एक छोटी चींटी को भी मैं मारुँ या दुःख दूँ—ऐसी वृत्ति श्रावक को नहीं होती। पानी-अग्नि इत्यादि स्थावर जीवों की जिसमें हिंसा हो, ऐसी प्रवृत्ति भी बिना प्रयोजन श्रावक नहीं करता; उसीप्रकार असत्य आदि पापों से भी उसका चित्त हट गया है, और विशेषरूप से अकषायी समताभाव हुआ है। अहा, जैन का श्रावकपद कितना ऊँचा है!—जगत को उसकी पहचान नहीं। उसके चारित्र के वीतरागी चमकार कोई अनोखे होते हैं।

सम्यग्दर्शन में सिद्धसमान अपने आत्मा का संवेदन हुआ, एवं सभी जीवों को भी परमार्थ से ऐसा ही जाना; तब अनंतानुबंधीकषाय के अभावरूप समभाव हुआ; वह धर्मात्मा

किसी को अपना विरोधी या दुश्मन नहीं मानता, अतः किसी को भी मारने की बुद्धि उसे नहीं होती; इसके उपरांत विशेष वीतरागता से पंचम गुणस्थान होने पर किसी को दुःख देने की वृत्ति नहीं रहती, किसी को कष्ट हो अथवा किसी की हिंसा हो—ऐसा कठोर वचन भी वह नहीं बोलता; धर्म की निंदा के वचन या घातक वचन, सो असत्य है, धर्मी को वह नहीं होता। बात की बात में बिना प्रयोजन झूठ बोलना–यह भी श्रावक को शोभा नहीं देता; उसीप्रकार व्रती–श्रावक परकीय वस्तु की चोरी नहीं करता, परस्त्री से अत्यंत विरक्त रहता है, और स्वस्त्री में भी मर्यादा रखता है; तथा देश–काल के अनुसार परिग्रह की मर्यादा करता है। यद्यपि स्थूलरूप हिंसादि पापों का त्याग तो साधारण सज्जन के भी होता है, परंतु इस श्रावक को तो नियमपूर्वक उन पापों का त्याग होता है, प्राण जाये तो भी वह उसमें दोष नहीं लगाता। इसप्रकार उसे गुणों की शुद्धि बढ़ गई है; वह ज्ञान में–स्थिरता में–शांति में–वीतरागता में सर्वार्थसिद्धि के देव से भी बढ़ गया है; उसका आत्मा चारित्र के चमकार से मोक्षमार्ग में शोभा पा रहा है।

देखो, यह जैन की श्रावकदशा! मैं शुद्ध आनंद चेतनास्वरूप हूँ—ऐसे अनुभवपूर्वक वीतरागभाव की यह बात है। जब अनंतानुबंधी एवं अप्रत्याख्यान संबंधी राग–द्वेष का सर्वथा नाश हो, तभी हिंसादि–पापों का यथार्थ त्याग होता है और सच्चा व्रत होता है; ऐसे व्रती को राग से रहित अलौकिक शांति होती है। ऐसा पंचम गुणस्थान नरक में या स्वर्ग में नहीं होता; तिर्यंच को पंचमगुणस्थान तक की दशा होती है, इससे आगे नहीं; मनुष्य को सभी चौदह गुणस्थान होते हैं—अतः वह उत्तम है।

जीव की शोभा सम्यक्त्वादि गुणों से है; सम्यक्त्व के उपरांत चारित्रदशा से जीव की विशेष शोभा है। अहो जीवो! राग में शोभा नहीं है, वीतरागता में ही शोभा है। सम्यग्दर्शनसहित जितनी वीतरागी शुद्धता हुई, वह निश्चय–व्रत है; उसके साथ में अहिंसादि संबंधी जो शुभराग रहा, वह व्यवहार से व्रत है। व्रत की भूमिका में वीतरागी देव–गुरु–धर्म की यथार्थ पहचान होती है, तथा आत्मस्वरूप की पहचानसहित सम्यक्त्व होता है; उसमें ही जिसकी भूल हो, देव–गुरु–धर्म ही जिसका असत्य हो, उसे व्रत कैसा? और चारित्र कैसा? अतः कहा कि परद्रव्य से भिन्न आत्मस्वरूप की रुचि, सो सम्यक्त्व, तथा अपने स्वरूप को जानना, सो सम्यग्ज्ञान कला, लाख उपाय से भी उसको धारण करो, और इसके पश्चात् सम्यग्दर्शन–ज्ञान

उपरांत परिणाम की शुद्धता-अनुसार दृढ़ता से चारित्र का पालन करो। यदि हो सके तो मुनियों के उत्तम चारित्र का पालन करो, और यदि शक्ति की मंदता हो तो श्रावक के योग्य देशचारित्र का पालन करो।—जिस चारित्र को अंगीकार करो, उसका दृढ़ता से पालन करो, उसमें शिथिलता न करो। अपने परिणाम की शुद्धता का विचार किये बिना आवेश में आकर चारित्र या व्रत धारण कर ले और फिर उसके पालन में शिथिलता रखे—यह जैनधर्म में शोभा नहीं पाता। हे भाई! बड़े चारित्र का पालन तेरे से न हो सके तो तू छोटा चारित्र लेना; परंतु बड़ा नाम धारण करके शिथिलाचार के द्वारा जैनधर्म को हँसी के पात्र मत बनाना। शुद्धता के साथ चारित्र का पालन हो—वह तो अति उत्तम एवं पूजनीय है। चारित्रवंत के चरणों में सम्यग्दृष्टि-इन्द्र भी नमस्कार करते हैं।

अणुव्रती-श्रावक के पंचम गुणस्थान में स्थूल हिंसादि पापों का तो सर्वथा त्याग हो चुका है; और जो सूक्ष्म हिंसादि रह गये हैं, उनको भी वह पाप समझता है, भला नहीं समझता; उन पापों का उसको खेद है और सर्वसंगपरित्यागी मुनिपद लेने की भावना है। वह अणुव्रती-श्रावक प्राण चले जाये तो भी पराई वस्तु की चोरी नहीं करता; संसारसंबंधी समस्त परस्त्री के प्रति उसका चित्त सर्वथा विरक्त है, परस्त्री के सेवन का विकल्प भी उसे नहीं आता; स्वर्ग की देवांगना को देखकर भी उसका चित्त नहीं ललचाता-निर्विकल्प शांति का ऐसा स्वाद उसे निरंतर रहता है। पुराणों में इस संबंध में हस्तिनापुर के राजा जयकुमार का दृष्टांत प्रसिद्ध है—जो देवों के द्वारा परीक्षा करने पर भी स्वदारसंतोष-व्रत से नहीं डिगा था।

वह श्रावक परिग्रह की तीव्र समता को छोड़कर उसकी मर्यादा करता है; मर्यादा से अधिक किसी भी परिग्रह की वृत्ति उसे नहीं होती। अरे, अभी तो जहाँ देखो वहाँ धन के लिये लोग कैसी-कैसी अनीति तथा अन्याय-प्रवृत्ति करते हैं? धर्मी-श्रावक को ऐसा नहीं होता; चाहे सुवर्ण के गंज हो या रत्नों के ढ़ेर-फिर भी चोरी से वह लेने की वृत्ति उसे नहीं उठती, इतनी निस्पृहता उसे हो गई है; अतः बाह्य में ऐसा त्याग सहज ही हो जाता है। सभी सम्यग्दृष्टि ने श्रद्धा-ज्ञान में तो समस्त परद्रव्यों को अपने से सर्वथा भिन्न जान लिये हैं, उनमें एक रजकण मात्र का स्वामित्व उन्हें नहीं रहा; तदुपरांत स्थिरता के द्वारा दूसरे कषाय का अभाव होने से परिग्रह की ममता बहुत छूट गई है; जो मर्यादित परीषह है, उसकी अल्प ममता को भी वे पाप

समझते हैं, और अपनी शक्ति को बढ़कर उसका भी त्याग करना चाहते हैं।

इसप्रकार श्रावक-श्राविका अपने अणुव्रतों में दृढ़ रहते हैं। देखो ना! सुदर्शन-श्रावक के ऊपर कैसे-कैसे संकट आये? फिर भी अपने शीलव्रत से वे जरा भी न डिगे सो न ही डिगे। रानी ने उनके ऊपर भयंकर आरोप लगाकर मरण जैसा उपसर्ग किया, अनेकविध विकृत हावभाव से उनको ललचाने की चेष्टा की, किंतु वे शीलव्रत में अत्यंत दृढ़ रहे। उसीप्रकार सीताजी, चंदना वगैरे सतियों ने भी कैसे-कैसे प्रसंग में महान धैर्यपूर्वक अपने शीलव्रत में अडिगता रखी है। उनके उदाहरण जगत में प्रसिद्ध हैं। ऐसे महात्माओं के उदाहरण लेकर धर्मी जीव अपने व्रतों में दृढ़ता करता है। प्राण चले जाये तो भले जाये, परंतु धर्मी जीव अपने व्रत को तोड़ते नहीं, धर्म से डिगते नहीं।

वाह, देखो ये धर्मी-श्रावक के व्रत! ऐसे व्रत को कौन नहीं मानेगा? ऐसे व्रत सम्यग्दर्शनपूर्वक ही होते हैं। जिसमें राग-द्वेष के किसी भी अंश का स्वीकार नहीं है, ऐसे अपने पूर्ण चैतन्यस्वभाव की सम्मुख होकर मिथ्यात्व का महा पाप तो जिसने छोड़ ही दिया है, तदुपरांत अस्थिरता के अल्प पापों से भी छूटने की यह बात है। जिसके अभिप्राय में राग का स्वीकार है, किसी भी प्रकार के राग से जो चैतन्य को लाभ मानता है, उसको तो वीतरागता कहाँ से होगी? और वीतरागता के बिना व्रत कैसा? जिसने राग से भिन्न चैतन्यस्वभाव को जाना ही नहीं, वह राग का त्याग कैसे करेगा? तथा चैतन्य में स्थिरता कैसे करेगा?-अतः भेदविज्ञान ही चारित्र का मूल कारण है-ऐसा नियम जानना।

पहला उत्सव धर्म का

एक समय भरतेश्वर स्वामी,
तीन बात सुनी तुरत भुरत॥ टेक॥
चक्ररतन, प्रभु-ग्यान, जनम-सुत,
पहिले कीजै कौन फुरत!
धरम प्रसाद सबै सुभ संपति,
जिन पूजै सब दुरति दुरत॥
चक्र उछाह क्रियों सुत मंगल,
'द्यानत' पायौ ग्यान तुरत॥

सतगुरु की बातडी

खोवो छो दिन रातडी, सुणि जीया रे ॥टेक॥
घड़ी ही घड़ी घड़ी आयु घटत है,
आवत देगो जम लातड़ी॥ सुणि०॥
पूजा दान शील व्रत पालो,
और करो जु सुभ जातडी॥ सुणि०॥
आतम काज कीयो जो चाहै,
सुनि 'सतगुरु' की बातडी॥ सुणि०॥

ज्ञानामृत-प्यालो पीवोजी

हो जी हो ग्यानामृत प्यालो, भवि रुचि सेती पीवोजी, मनि आनि आनि ज्यों योही॥ टेक॥
जो निज वस्तु ताहि अपनावो, होजी हो पर वस्तु सदा ही भवि तुम मति छीबोजी॥ १॥
फैल रह्यो मिथ्यात अंधेरो, हो जी हो ताहि दूर करन कौ भवि एक ही दीवोजी॥ २॥
'नवल' कहै समतारस चाहो, हो जी हो आतम हित करिकै भवि तुम चिरंजीवोजी॥ ३॥

'वीरवाणी' से साभार

आपके घर में वीतरागी-निधान

आपके घर में उत्तम धर्मसाहित्य तथा 'आत्मधर्म' को बसाओ।

वह साहित्य आपकी भावी पीढ़ी के लिये कभी उत्तम निधान बन जायेगा।

सुवर्ण-रत्नजड़ित अलंकार से भी अधिक शोभा वीतरागी साहित्य के द्वारा होगी।

* आत्मधर्म वार्षिक रुपये ६=०० आत्मधर्म कार्यालय सोनगढ़ (३६४२५०)
* सम्यग्दर्शन पुस्तक छट्ठा (नवीन प्रकाशन : गुजराती भाषा) मूल्य : तीन रुपये।
* पंच परमागमनी प्रसादी (नवीन प्रकाशन : गुजराती भाषा) मूल्य : ढाई रुपये।
* पंचास्तिकाय प्रवचनसार की गुजराती भाषा में नयी आवृत्ति छप रही है।
* अष्टप्राभृत गुजराती-हरिगीत तथा 'पंचपरमेष्ठीविधान' छप रहा है।

विविध समाचार —

❀ शाहदरा-दिल्ली मुमुक्षुमंडल ने वैशाख सुद २ के दिन पूज्य श्री कानजीस्वामी की जन्मजयंती आनंदोल्लास के साथ मनायी थी, और पूज्य स्वामीजी के महान उपकार को प्रसिद्ध किया था।

❀ अहमदाबाद : जन्मजयंती के बाद पूज्य गुरुदेव सुरेन्द्रनगर होकर राजकोट पधारे थे; वहाँ संवर अधिकार के प्रवचन में गुरुदेव ने भेदज्ञान का अच्छा स्वरूप समझाया; दो सुशिक्षित कुमारिकाओं ने आजीवन ब्रह्मचर्य-प्रतिज्ञा ली। इसके बाद पूज्य स्वामीजी जामनगर पधारे; यहाँ के नवनिर्मित स्वाध्यायमंदिर में समयसार की गाथायें आरस में खुदी हुई हैं—जिसका उद्घाटन गुरुदेव की मंगल छाया में भाई श्री गुलाबचंद भारमल के सुहस्त से हुआ; बालिकाओं ने 'सती अंजना' का वैराग्यपूर्वक नाटक प्रस्तुत किया। जामनगर से पूज्य गुरुदेवश्री कोटा शहर पधारे।

❀ कोटा शहर में गतमास में बड़े उत्साहपूर्वक वीतरागविज्ञान शिक्षणशिविर चला; पूज्य श्री कानजीस्वामी भी आठ दिन कोटा पधारे; हजारों जिज्ञासुओं ने लाभ लिया। इसके बाद टोंक-पद्मपुरा-जयपुर-बम्बई-भावनगर होते हुए आप लाठी-शहर पधारे थे, श्रुतपंचमी के मंगल दिन यहाँ के जिनमंदिर का पचीस वर्षीय उत्सव मनाया गया था। इसके बाद पूज्य गुरुदेव सोनगढ़ पधारे।

❀ श्री जिनेन्द्र भगवंतों की मंगल प्रतिष्ठा, बाहुबली भगवान की यात्रा तथा अनेकविध धर्मप्रभावना करके पूज्य श्री कानजीस्वामी ज्येष्ठ सुद सप्तमी को पुनः सोनगढ़ पधार गये हैं; और सोनगढ़ में पुनः श्रुतवर्षा होने लगी है। सुबह में श्री प्रवचनसार के ऊपर तथा दोपहर में समाधितंत्र के ऊपर प्रवचन चल रहा है।

❀❀❀

❀ आत्मधर्म का वर्ष वैशाख मास से प्रारंभ हुआ है; यह दूसरा अंक है; वार्षिक लबाजम रुपये ६=०० भेजकर आत्मधर्म मंगाइये और उत्तम धर्मसंस्कार का लाभ लीजिये।

अनेक सज्जनों का लबाजम, जो भोपाल या बेंगलोर दिया था, वह हमें देर से मिलने के कारण आपको, अंक भेजन में देरी हुई थी।

पत्र-व्यवहार का पता : आत्मधर्म कार्यालय, सोनगढ़ (३६४२५०)

सर्वज्ञ महावीर का धर्मचक्र-प्रवर्तन

'श्रावण कृष्ण प्रतिपदा' माने भगवान महावीर के धर्मचक्र-प्रवर्तन का मंगल दिवस! अहा, उस समय राजगृही में विपुलगिरि के ऊपर कैसा महान अपूर्व आनंदकारी धर्मोत्सव मनाया होगा? प्रभु के जिस दिव्यध्वनि का एक छोटा सा अंश भी आज (ढाई हजार इकत्तीस वर्षों के बाद भी) हमें ऐसा महान आनंद तथा शांति दे रहा है, तब फिर प्रभु की सर्वज्ञता की तथा उनके इष्ट उपदेश की तो क्या बात!! अभी श्रावण कृष्ण प्रतिपदा को धर्मचक्र प्रवर्तन का मंगल दिवस आ रहा है... हम सब आनंद से वीरप्रभु का स्मरण करके शांतरस का पान करेंगे।

हम सब एकमत होकर उत्सव आनंद से मनावें

भगवान महावीर का हमारे ऊपर जो परम उपकार है, उसमें किसी को मतभेद नहीं है; अभी विशिष्ट निर्वाणोत्सव के बहाने हमें वह उपकार प्रसिद्ध करने का अवसर मिला है। पूज्य श्री कानजीस्वामी बहुत प्रमोद से बारबार कहते हैं कि—अहो, ऐसा अवसर आया है तो सब मिलकर भक्तिभाव से शासन की शोभा बढ़ाना चाहिये। सर्वत्र शांति हो, कहीं भी क्लेश या विरोध न हो—ऐसे ढंग से आनंदपूर्वक उत्सव मनाना चाहिये। किसी को एक-दूसरे के लिये कटु भाषा का प्रयोग नहीं करना चाहिये। सभी से प्रेम-वात्सल्य तथा सहकार भावना रखना चाहिये। भगवान महावीर का हमारे ऊपर जो अनंत उपकार है। इस बात में तो हम सब एक मत हैं, तब फिर आईये, एक साथ मिलकर प्रभु के मोक्षगमन का महान उत्सव हम आनंद से मनायें और उनके पावन पथ पर चलें।

'जय महावीर'

क्रिया : कौन स्थापन करता है ?—कौन निषेध करता है ?

[क्रिया तीन प्रकार की हैं : जड़ की, राग की तथा धर्म की]

ज्ञानी स्थापन करता है

१. शरीर की क्रिया पुद्गल परमाणु की अवस्था है और उस क्रियारूप स्वतन्त्र परिणमन करते हैं अर्थात् शरीर की अवस्थारूप होते हैं; उसका कर्ता आत्मा नहीं है; इसप्रकार ज्ञानी ही शरीर की क्रिया को जैसी है, वैसी स्थापन करता है।

२. पुण्यक्रिया (रागक्रिया) वह जीव का विकारभाव है, उस क्रिया में से आत्मा का अविकारी धर्म प्राप्त नहीं होता, तथा वह क्रिया धर्म में मददगार भी नहीं होती; इसप्रकार ज्ञानी ही पुण्यक्रिया को रागक्रिया के रूप में स्थापन करता है।

३. आत्मा का शुद्धभाव होना, वह धर्मक्रिया है, वह क्रिया आत्मा के ही आलंबन से होती है, उसमें अन्य किसी का आलंबन नहीं है, और न राग क्रिया में से उसकी प्राप्ति होती है; इसप्रकार ज्ञानी ही आत्मा की अविकारी धर्मक्रिया का स्थापन करता है।

अज्ञानी उत्थापन करता है

१. शरीर की क्रिया परमाणु द्वारा स्वतंत्र नहीं होती, किंतु आत्मा उसको करता है—ऐसा मानकर अज्ञानी ही शरीर की स्वतंत्र क्रिया का उत्थापन करता है, पुद्गलपरमाणु की स्वतंत्र क्रिया को वह नहीं जानता।

२. पुण्यक्रिया अथवा शुभरागरूप विकारी क्रिया से धर्म अथवा मोक्षमार्ग की प्राप्ति हो जायेगी, या वह क्रिया धर्म में मददगार होगी—ऐसा मानकर अज्ञानी ही पुण्यक्रिया का उत्थापन करता है; पुण्य विकारीक्रिया होने पर भी अज्ञानी उसको विकारीक्रियारूप नहीं जानता।

३. आत्मा के शुद्धभाव की क्रिया पुण्य-राग करते-करते हो जायेगी अथवा उसमें परावलंबन चाहिये—ऐसा मानकर अज्ञानी ही अविकारी धर्मक्रिया का उत्थापन करता है; पुण्य से पार निरालंबी शुद्धभावरूप क्रिया है, उसको वह नहीं जानता।

माता-पुत्र की मीठी-मीठी बातें

- हे जिनवाणी माता! आप प्रसन्न होकर मेरे हृदय में पधारी हो, तो आप मेरे को क्या दोगी?
- बेटा! मैं तेरे को आनंदमय चैतन्यतत्त्व की अनुभूति दूँगी; आत्मा की चेतना दूँगी, और ऐसा तप दूँगी कि तेरी चेतना चैतन्य तेज से चमक उठेगी। (अर्थात् आत्मअनुभूति ही जिनवाणी का तात्पर्य है।)
- वाह माता! आप अनुपम दाता हो! अब मुझे इस भवदु:ख से तथा अज्ञान से आप कब छुडायेंगी?
- बेटा, अभी ही दु:ख से छूटकर आनंद में आ जा! यह रहा-तेरा चैतन्यतत्त्व! इसका स्वीकार करते ही तेरा अज्ञान छूट जायेगा और भवदु:ख मिट जायेगा।
- माँ, मुझे इस संसार का बहुत डर लगता है।
- बेटा, तू मेरी शरण में आया अब भय किसका? विश्व में किसकी ताकत है कि मेरी गोद में आये हुए पुत्र को दु:खी कर सके?—मैं कौन हूँ? तीर्थंकर मेरा पिता, और वीतरागी रत्नत्रयवंत मुनिवर मेरे भाई, उन्होंने मेरा पालन-पोषण किया; और हे पुत्र! तेरे को गोद में लेकर मैंने चैतन्यरस पिलाया, अब निर्भय हो करके तू महा आनंद में आ जा। मेरी शरण लेनेवाले को भव दु:ख नहीं हो सकता।
- वाह माता! आप तो आनंद की ही दाता हो; आपने मुझे आनंद की अनुभूति दी। हे माताजी! जैसे मुझको आनंद दिया, वैसे मेरे साधर्मीजनों को भी आनंद देना।

हे जिनवाणी भारती! तोहि जपूं दिनरैन।
जो तेरा शरणा ग्रहे सो पावे सुखचैन॥
माता! अनुभूति चेतन की मुझको अतिशय प्यारी.....
अनुभूति में आनंद उल्लसे उसकी जाति न्यारी.....
माता! दरशन तेरा रे... जगत को आनंदकारा रे।

[श्री जिनवाणी माता का जन्मदिन श्रावण वद १, जन्मधाम-विपुलाचल]

प्रकाशक : श्री दिगम्बर जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) (३६२)
मुद्रक : मगनलाल जैन, अजित मुद्रणालय, सोनगढ़ (सौराष्ट्र) प्रति ३०००